BIHAR YOGA

योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला

प्रवृत्ति एवं निवृत्ति

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

प्रवृत्ति एवं निवृत्ति

ॐ, प्रेम, मंगलम्

प्रवृत्ति एवं निवृत्ति

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

विश्व योगपीठ, गंगादर्शन, मुंगेर में 23 से 26 जून 2010
तक आयोजित योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला के दौरान दिये गये प्रवचन



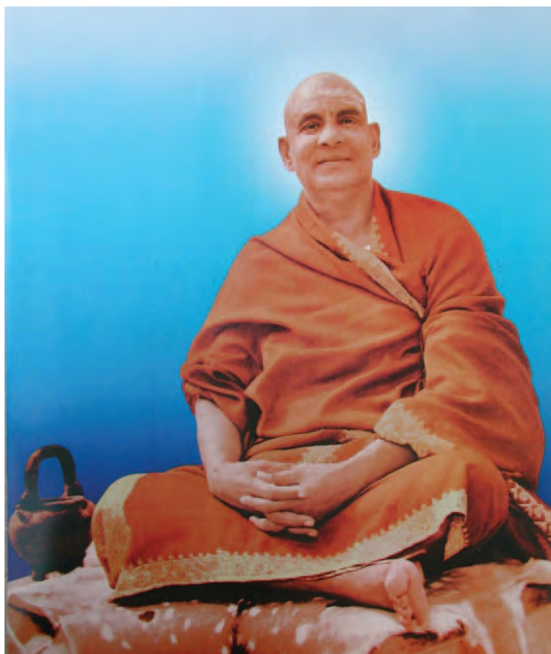
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा *प्रथम प्रकाशन 2012*
पुनर्मुद्रण 2014

ISBN: 978-93-81620-10-6

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—एजीएन ऑफसेट प्रिंटर्स,
ग्रेटर नोएडा

वेबसाइट: www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.in



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

विषय सूची

एक यात्री की कहानी

23 जून, 2010

आप में से अधिकांश लोग जानते होंगे कि मेरे जीवन का एक अध्याय सन् 2009 में समाप्त हुआ। उस अध्याय की मुख्य घटनाएँ और गतिविधियाँ योग तथा योग के देश-विदेश में प्रचार-प्रसार से सम्बन्धित रही हैं। अपने गुरु, श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के मार्गदर्शन और निर्देश अनुसार मैंने चालीस साल तक दुनियाभर में योग का सफलतापूर्वक प्रचार-प्रसार और प्रतिष्ठापन किया। अपने गुरु के महान् लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में यह मेरा एक छोटा-सा योगदान था।



जुलाई, सन् 2009 में श्री स्वामीजी ने मुझे बुलाकर कहा, 'अब तुम्हें एक दूसरी यात्रा पर निकलना है। इसके लिए तुम्हारे जीवन के पुराने अध्याय को समाप्त होना है।' पुराना अध्याय सार्वजनिक क्रिया-कलापों का था जिसमें मैंने विश्व के कोने-कोने में विभिन्न समाजों के लोगों के बीच योग का प्रचार किया। नये अध्याय में अब अपने जीवन के उस लक्ष्य और प्रयोजन की ओर बढ़ना है, जिसके लिए मैंने बचपन में संन्यास लिया था।

पिछले तीन सप्ताह से मैं मुंगेर से बाहर था और बाहर घूमने के लिए नहीं, बल्कि चिंतन के लिए गया था। ऊँचे पर्वतों के एकान्तमय वातावरण में श्री स्वामीजी के उन निर्देशों पर चिंतन करने लगा जो उन्होंने महासमाधि से पहले मुझे दिये थे, और सोचने लगा, 'मैं अपने जीवन के नये अध्याय का प्रारम्भ किन वाक्यों से करूँ?' चिंतन के इस क्रम में मुझे अपने गुरुजी द्वारा बतायी गयी एक कहानी याद आयी और वही कहानी इस नये अध्याय की शुरुआत भी है।

श्रीमान् आत्माराम – ब्रह्मपुरी का यात्री

एक यात्री था जो अनन्त काल से यात्रा करता आ रहा था। उसकी यात्रा का उद्‌देश्य अपने नगर पहुँचना था। पर वह नगर बहुत दूर था। यात्री धीरे-धीरे अपने पगों को अपने गन्तव्य की ओर बढ़ाते चलता था। नगर का नाम था ब्रह्मपुरी और यात्री का नाम था श्रीमान् आत्माराम। एक दिन लम्बे समय तक यात्रा करके जब वह थक गया, तब विश्राम के लिए बसेरा खोजने लगा। बसेरा खोजते-खोजते वह एक सराय के पास पहुँचा, जिसका नाम था 'संसार सराय'। चूँकि वही एक रहने का स्थान था, आत्माराम ने उस सराय में प्रवेश किया, सराय के मालिक से मिला और मालिक से कहा कि मुझे आज निवास के लिए कमरे की आवश्यकता है। सराय के मालिक का नाम था मनीराम। मनीराम का मतलब, पैसा राम!

मनीराम आत्माराम से पूछता है, 'आप कहाँ से आ रहे हो और कहाँ जा रहे हो?' आत्माराम बतलाता है, 'मैं तो भूल भी गया हूँ कि कब से यात्रा कर रहा हूँ। मुझे बस इतना मालूम है कि मुझे अपने नगर पहुँचना है और उसी नगर की ओर मैं कदम बढ़ाते चल रहा हूँ।' तब मनीराम कहता है, 'देखो आत्माराम जी, आप तो बहुत समय से यात्रा करते आ रहे हो, कुछ समय इसी होटल में बिताओ। यहाँ पर आराम करो, यहाँ के 'स्पा' में जाकर मालिश

करवा लो, रेस्तराँ में जाकर बढ़िया भोजन कर लो और जब पूर्ण रूप से आपको आराम मिल जाता है, फिर से चलने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, तब आप दुबारा चलना शुरू करो।'

आत्माराम बेहद खुश हुआ कि इतने दिनों बाद इतने सुन्दर 'संसार होटल' में हमें प्रवेश मिला है। अभी तक तो कंद-मूल खाते थे, गुफाओं में या पेड़ों के नीचे सोते थे, झरनों का पानी पीते थे, लेकिन अब होटल में 'बिसलेरी' और 'कोका-कोला' मिलेगा, सोने के लिए पत्थरों की शय्या के बदले रेशमी शय्या मिलेगी। जब यह होटल सभी सुख-सुविधाओं से युक्त है, तो क्यों न कुछ दिनों के लिए इस होटल में विश्राम कर लिया जाए।

होटल के मालिक मनीराम ने आत्माराम की सेवा में दो सुन्दर लड़कियों को भेज दिया। एक लड़की का नाम था वासना कुमारी, दूसरी का तृष्णा कुमारी। ये दोनों लड़कियाँ मनीराम के कहने पर आत्माराम की सेवा में संलग्न हो गईं। कभी उसके पैर दबातीं, कभी उसके लिए थालियों में अच्छे व्यंजन लेकर आतीं, कभी उसके कपड़े धो देतीं, कभी उसके कमरे की सफाई कर देतीं। इस प्रकार वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी आत्माराम का खूब ख्याल करने लगीं। आत्माराम इन दोनों की संगति में धीरे-धीरे भूलते गया कि उसे ब्रह्मपुरी की यात्रा करनी है। और वह भी मौज-मस्ती में अपना समय बिताने लगा। शाम के समय नीचे जाता, जुआ खेलता, रेस्तराँ में बैठता, बोतल चढ़ाता, अच्छा खाना खाता, नाच देखता, होटल की दुकानों से बढ़िया वस्त्र और अलंकार खरीदता और उन अलंकारों से वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी का शृंगार भी करता। बीच-बीच में जब वह होटल से बाहर निकलना चाहता, मनीराम उसके पास दौड़े चले आता और कहता, 'इस होटल की सुख-सुविधा को छोड़कर आप कहाँ जाओगे? बाहर तो तपतपाती धूप है, गरम लू बहती है, रास्ता ठीक नहीं है, उस पर काँटे और पत्थर हैं, चलने में दिक्कत होती है। होटल के बाहर बहुत कष्ट है, इसलिए अभी कुछ समय आप होटल में ही विश्राम करो।' और आत्माराम भी सोचता कि मनीराम मेरा बहुत ख्याल रखता है। इसलिए उसकी बात मान लेता और होटल में ही रहता।

कुछ समय बाद गैरिक वस्त्र पहने एक अन्य यात्री का उस होटल में प्रवेश होता है और वह भी वहाँ एक कमरा लेकर रहता है। आत्माराम उसे देखकर सोचता है, 'यह कौन नया यात्री आया है इस होटल में? इसके वस्त्र

सुन्दर और लुभावने नहीं हैं, बल्कि एक ही प्रकार के गेरू वस्त्र हैं। सिर पर केश नहीं हैं, शरीर पर कोई अलंकार भी नहीं है। अलंकार के नाम पर रुद्राक्ष की माला है। यह मनीराम से ज्यादा बातचीत भी नहीं करता। वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी को अपने कमरे से बाहर ही रखकर दिनभर एकांत में ही रहता है।' इस तरह आत्माराम के मन में विविध प्रकार के प्रश्न उठने लगे।

एक दिन भोजन के समय आत्माराम इस व्यक्ति के पास पहुँचता है और पूछता है, 'बहुत दिनों से आपको इस होटल में देख रहा हूँ, लेकिन केवल भोजन के समय ही देखता हूँ। बाकी समय न आप रेस्तराँ में दिखते हैं, न नाच-गाने में, न दुकानों में, न यहाँ की कन्याओं के साथ। आखिर आप हैं कौन?'

वह गेरूवस्त्रधारी यात्री कहता है, 'मेरा नाम मार्गदर्शक है, और मैं भी कुछ समय के लिए इस होटल में आकर विश्राम कर रहा हूँ।'

आत्माराम पूछता है, 'आपका नाम मार्गदर्शक है! आप कहाँ का मार्ग बताते हैं?'

मार्गदर्शक कहता है, 'जो यात्री ब्रह्मपुरी की ओर चलते हैं लेकिन मार्ग में भटक जाते हैं, मैं उन्हीं यात्रियों को मार्ग बतलाता हूँ।'

जैसे ही मार्गदर्शक ने ब्रह्मपुरी का नाम लिया, आत्माराम को याद आया कि वह भी तो ब्रह्मपुरी की ओर ही यात्रा कर रहा है। वह मार्गदर्शक से कहता है, 'मेरा नाम आत्माराम है और मैं भी ब्रह्मपुरी का यात्री हूँ। क्या आप मेरी मदद कर सकते हैं? मुझे ब्रह्मपुरी की ओर जाने का रास्ता बता सकते हैं?'

मार्गदर्शक कहता है, 'हाँ, बता सकता हूँ। वही तो मेरा काम है। मैं यहाँ पर्याप्त आराम कर चुका हूँ, और तुम भी। कल प्रातःकाल की बेला में हमलोग यहाँ से निकल चलेंगे।'

आत्माराम बहुत खुश हुआ। उसने सोचा, 'चलो एक मार्गदर्शक तो मिला जो मुझे ब्रह्मपुरी की ओर ले जाएगा।' वह अपने कमरे जाकर सामान बाँधने लगा। सामान बाँधते समय उसके दरवाजे पर कोई खटखटाता है। आत्माराम दरवाजा खोलकर देखता है, बाहर वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी खड़ी हैं। कमरे के अंदर आकर वे पूछती हैं, 'आज शाम की पार्टी में क्या कपड़े पहेनोगे, क्या खाओगे?' लेकिन जैसे ही वे कमरे में प्रवेश करती हैं तो देखती हैं कि आत्माराम जी ने बिस्तर पर अपना सूटकेस खोला



हुआ है और उसमें अपने कपड़े डाल रहे हैं। दोनों थोड़ा-सा भयभीत होकर पूछती हैं, 'आत्माराम जी, कहाँ जाने की तैयारी है?'

आत्माराम कहता है, 'मुझे अब ब्रह्मपुरी की यात्रा करनी है। मुझे एक मार्गदर्शक मिल गए हैं और उन्होंने कहा है कि वे मुझे ब्रह्मपुरी जाने का रास्ता बता देंगे।'

वासना कुमारी धीरे-से तृष्णा कुमारी से कहती है, 'जाकर होटल के मैनेजर साहब को बतला दो कि आत्माराम जी कल सवेरे होटल छोड़कर जा रहे हैं।' उधर तृष्णा कुमारी मैनेजर मनीराम के पास जाती है और इधर वासना कुमारी आत्माराम जी के साथ रहती है और उनसे कहती है, 'आपको मालूम है कि आप कहाँ जा रहे हो? यह सारी सुख-सुविधा और आनंद छोड़कर, तपती धूप में, पथरीली राहों पर जाओगे? और किसके साथ जा रहे हो? एक ऐसे मार्गदर्शक के साथ जिसका न अता है न पता। वह कब आता है, कब जाता है, किसी को मालूम नहीं। ब्रह्मपुरी की यात्रा तय करने में कितना समय लगेगा, क्या यह भी मालूम है आपको? हो

सकता है एक महीना लगे, हो सकता है एक साल लगे, हो सकता है पूरा जीवन ही लग जाए!'

'इतनी कठोर और लम्बी यात्रा पर जाने के बदले, आत्माराम जी, आप यहीं रह जाओ। यहाँ तो आपको किसी सुख-सुविधा की कमी नहीं। खाने के लिए नाना प्रकार के बढ़िया व्यंजन, पीने के लिए हर प्रकार का द्रव्य, सब कुछ मिलता है यहाँ पर। यात्रा में चलते-चलते जब आप थक जाओगे तो आपके पैर कौन दबाएगा? यहाँ तो सौ प्रकार की कन्याएँ आपके शरीर की मालिश के लिए तैयार रहती हैं। आपको यहाँ पर किसी प्रकार की असुविधा नहीं होगी।'

वासना कुमारी आत्माराम से ये सब बातें कह ही रही थी कि इतने में मनीराम ने भी आकर दरवाजा खटखटा दिया। उसने अन्दर आकर कहा, 'यह क्या सुनने में आ रहा है भई आत्माराम? तुम तो हमारे प्रिय मित्र हो, लेकिन तुम हम सबको छोड़कर जा रहे हो। यह कैसे सम्भव है? अगर तुम यह जगह छोड़कर चले जाओगे तो वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी का दिल टूट जाएगा। मैं भी अपने प्रिय मित्र के बिना यहाँ पर कैसे रह सकूँगा? तुम अपनों को छोड़कर एक अज्ञात मार्ग पर चलना चाहते हो, वह भी एक अजनबी के साथ जो अपने आप को मार्गदर्शक कहता फिरता है। उसका न तो खाने-पीने का ठिकाना है, न सोने-जागने का। लगता है कि उस मार्गदर्शक ने तुम्हारा दिमाग फेर दिया है। कितने ही लोगों को वह ब्रह्मपुरी की ओर लेकर गया है, पर भगवान जाने वे लोग वहाँ सुरिक्षत पहुँचे भी हैं या नहीं। ऐसे अनजान आदमी के साथ तुम यात्रा क्यों करना चाहते हो?'

आत्माराम मनीराम की बातों से डगमगा जाता है, 'हाँ, तुम लोगों का कहना सही है। छोड़ो, नहीं जाता मार्गदर्शक के साथ।' सूटकेस से सारा सामान बाहर निकालकर वह वासना कुमारी, तृष्णा कुमारी और मनीराम के साथ नीचे जाकर मौज-मस्ती करने लगता है। रात में बहुत देर तक पार्टी चलती है। सभी सोचते हैं कि उन्होंने आत्माराम के विचारों को बदल दिया है और निश्चिन्त हो जाते हैं। आत्माराम भी खा-पीकर, नाच-गाकर अपने कमरे में लौटता है और सो जाता है। दूसरे दिन देर से उठता है और नाश्ता करने के लिए नीचे पहुँचता है। नाश्ते के लिए जब रेस्तराँ पहुँचता है तो देखता है कि वहाँ मार्गदर्शक बैठे हुए हैं। मार्गदर्शक उसे देखकर कहते हैं, 'आत्माराम! इधर आओ। क्या हो गया? सवेरे चार बजे से मैं तुम्हारी प्रतीक्षा

कर रहा हूँ। बारह बज रहे हैं और तुम अभी जागकर आ रहे हो! खैर, कोई बात नहीं। देर आए, दुरुस्त आए। अब चलने को तैयार हो या नहीं?'

आत्माराम कहता है, 'मार्गदर्शक जी, मैंने अपना निर्णय बदल दिया है। अब मैं यहीं पर रहूँगा।'

मार्गदर्शक पूछते हैं, 'ब्रह्मपुरी नहीं चलना है?'

'पहले यह बताइये कि आप जितने लोगों को साथ लेकर गए हैं, उनमें से कितने ब्रह्मपुरी पहुँचे हैं?'

'देखो, जो अपने जीवन में एक लक्ष्य बना लेता है और उस लक्ष्य की ओर चलने का निर्णय ले लेता है, वह आज नहीं तो कल, निश्चित रूप से अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। और जो मार्ग में ही लड़खड़ा जाता है, वह या तो वहीं पर बैठ जाता है या फिर होटल लौट आता है।'

आत्माराम कहता है, 'देखिये, इस संसार होटल में तो हर प्रकार की सुख-सुविधा उपलब्ध है। अब आप ही बताइये कि ब्रह्मपुरी में कौन-सी सुख-सुविधा उपलब्ध है?'

मार्गदर्शक बतलाते हैं, 'ब्रह्मपुरी में जो चीजें उपलब्ध हैं, उनकी तुम यहाँ कल्पना भी नहीं कर सकते। यह तो केवल एक होटल है, लेकिन ब्रह्मपुरी तो एक पूरा शहर है। एक होटल में तुम्हें इतनी सारी चीजें उपलब्ध हैं तो सोच लो कि एक शहर में कितनी सारी चीजें उपलब्ध होंगी? वहाँ तुम्हें ऐसी कितनी चीजें मिलेंगी जो यहाँ बिल्कुल उपलब्ध नहीं। जो भी व्यक्ति वहाँ पहुँचता है, अवर्णनीय आनंद और सुख में अपना जीवन व्यतीत करता है।'

इस प्रकार नाश्ते के दौरान आत्माराम और मार्गदर्शक में फिर बातचीत होती है और धीरे-धीरे आत्माराम ब्रह्मपुरी की यात्रा के लिए फिर से अपना मन बना लेता है। वह मार्गदर्शक से कहता है, 'देखिये महाराज, आज तो बारह बज गये हैं और कल रात की पार्टी से मैं थका भी हुआ हूँ। आजभर और आराम कर लेते हैं यहाँ पर, कल सवेरे हम लोग यात्रा करेंगे।'

मार्गदर्शक मान गए, 'ठीक है। एक रात की मोहलत और है। आराम कर लो, सामान बाँध लो। लेकिन इस बार एक काम करना। अगर वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी तुम्हारे पास आते हैं तो उन्हें मत बताना कि तुम ब्रह्मपुरी की यात्रा करने वाले हो। अगर बताओगे तो वे लोग फिर तुम्हें रोकने और फँसाने का प्रयास करेंगे। अगर नहीं बताओगे तो उन्हें मालूम भी नहीं पड़ेगा और तुम चुपचाप सवेरे यात्रा पर निकल सकते हो।'

आत्माराम ने कह तो दिया, 'ठीक', लेकिन जब वह अपने कमरे में पहुँचा और कुछ देर बाद वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी भी वहाँ पहुँचे तो उनके सौन्दर्य से मुग्ध होकर वह अपनी योजना को छिपाये रखना भूल गया और बातों-ही-बातों में बतला दिया कि वह अगले दिन सवेरे यात्रा करने की सोच रहा है। जैसे ही दोनों ने यह बात सुनी उन्होंने फिर रोना-धोना प्रारम्भ कर दिया। 'तुम्हारे बिना हम कैसे रहेंगे? तुम चले जाओगे तो हम लोगों का दिल टूट जाएगा, हम लोग मर जाएँगे। तुम्हारे मित्र मनीराम की स्थिति क्या होगी? होटल की सारी रौनक खत्म हो जायेगी। आखिर होटल में रौनक तब तक है जब तक तुम यहाँ पर हो।' इस तरह के बहुत-से प्रलोभन दिए, सिर से पैर तक शरीर की मालिश की, और जब देखा कि आत्माराम अब निश्चिंत होकर सो रहा है, दोनों कुमारियाँ उस कमरे से खिसक गईं।

लेकिन इस बार मार्गदर्शक भी सजग थे। उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'पिछली रात तो इन लोगों ने आत्माराम को प्रलोभन देकर रोक लिया। देखता हूँ आज किस प्रकार का प्रलोभन दिया गया है।'

रात के करीब एक-दो बजे, मार्गदर्शक अपने कमरे से निकलकर आत्माराम के कमरे के सामने पहुँचते हैं और दरवाजा खटखटाते हैं। आत्माराम उठता है और आखों को मलता हुआ धीरे-से दरवाजा खोलता है। देखता है कि मार्गदर्शक सामने खड़े हैं। आश्चर्य भरे स्वर में उनसे कहता है, 'आप! आधी रात को यहाँ पर क्यों खड़े हैं?'

मार्गदर्शक कहते हैं, 'मैं जानना चाहता हूँ कि तुम्हारा झोला-झण्डा सब तैयार है कि नहीं। सवेरे चलने को तैयार हो या नहीं?'

आत्माराम कहता है, 'नहीं, मैं विचार कर रहा हूँ कि कुछ दिन और इस सराय में रहूँगा। अभी जाने का विचार नहीं है।'

मार्गदर्शक पूछते हैं, 'क्यों?' तो आत्माराम कहता है, 'वासना कुमारी, तृष्णा कुमारी, मनीराम–ये सब मेरे प्रिय मित्र हैं, मेरे जाने के बाद इनकी क्या स्थिति होगी? बेचारे दु:ख से मर जायेंगे। वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी, दोनों सौन्दर्य की प्रतिमूर्तियाँ हैं। वे रो-रो कर बेहाल हो जाएँगी। मनीराम मेरा इतना करीबी दोस्त है, वह बेचारा कितना दु:खी होगा। मैं इन्हें दु:ख देकर यहाँ से जाना नहीं चाहता।'

यह सुनकर मार्गदर्शक आत्माराम से कहते हैं, 'जरा मेरे साथ आओ। मैं तुम्हें एक चीज बतलाना चाहता हूँ।' ऐसा कहकर वे आत्माराम को एक दूसरे

कमरे के सामने ले जाते हैं। आत्माराम मार्गदर्शक से पूछता है, 'मुझे इस कमरे के सामने क्यों लाए हो?' मार्गदर्शक कहते हैं, 'इस कमरे के भीतर एक अन्य यात्री है, और वह किसी के साथ बात कर रहा है। तुम ध्यान से उसकी बात सुनो और देखो भीतर क्या हो रहा है।'

आत्माराम चाभी के छेद से कमरे के भीतर देखता है। देखता है कि बिस्तर पर एक यात्री है और उसके पैरों की मालिश हो रही है। मालिश करने वाली और कोई नहीं, वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी ही हैं! उसे तो चक्कर आ जाता है। वह सोचता है, 'वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी, जिनपर मैं मोहित हूँ और जो मुझपर मोहित हैं, वे एक अन्य यात्री की सेवा कैसे कर रही हैं!' वह गौर से सुनने लगता है कि भीतर क्या बातचीत हो रही है। वह वासना कुमारी को इस नए यात्री से कहते सुनता है, 'आप ही सब कुछ हो यहाँ पर। आपके बिना हम कैसे रहेंगे? यहीं पर इस होटल में आप रह जाओ, हमेशा के लिए। होटल के बाहर यात्रा मत करो। तपतपाती धूप है, पथरीले मार्ग हैं। विश्राम या भोजन के लिए कोई स्थान नहीं। सुख-सुविधा यहीं पर है। यहीं पर रह जाओ। मैं तुम्हारी हूँ, तुम मेरे हो।'

जब आत्माराम ने यह सुना, उसे बहुत शोक हुआ। उसने कहा, 'एक घण्टा पहले यही वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी मुझसे कह रही थीं



कि तुम ही हमारे सब कुछ हो। अब एक घण्टे बाद ये दूसरे यात्री से यही बात कह रही हैं।' यह कहकर वह रोने लगा। उसने मार्गदर्शक की ओर देखा। वे मुस्कुरा रहे थे। उन्होंने कहा, 'देखो आत्माराम, इस होटल में जो भी आता है, ऐसे ही फँसता है। मनीराम, वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी सब को पकड़कर, अपना कहकर रख लेते हैं। लेकिन सत्य तो यह है कि यहाँ पर कोई अपना नहीं है। अपनेपन का दिखावा जरूर है, लेकिन अपना कोई नहीं।'

आत्माराम ने कहा, 'मार्गदर्शक जी, मेरी आँखें खुल गईं। मैं अभी आपके साथ चलने को तैयार हूँ।'

मार्गदर्शक ने कहा, 'पहले मेरे कमरे चलो।' कमरे में ले जाकर उन्होंने चाकू-उस्तरा निकाला और आत्माराम का सिर साफ किया। फिर कहा कि ये जो महंगे कपड़े पहने हुए हो, इन्हें भी उतारो। अपने झोले से दो गेरू धोतियाँ निकालकर कहा, 'इन्हें पहन लो।' आत्माराम ने सोने के जो हार और अँगूठियाँ पहनी हुई थीं, वे भी उतरवा दीं और अपने झोले से रुद्राक्ष की माला उसे दे दी। इस प्रकार आत्माराम को नये वस्त्र और अलंकार देकर कहा, 'अब चलो हमारे साथ।' और आधी रात को ही वे लोग उस संसार होटल से निकल पड़े, ब्रह्मपुरी की यात्रा पर।

उनकी यात्रा अभी जारी है।

यह कहानी मेरे मन में बार-बार आ रही थी। पर्वतों की ओर मैं गया हुआ था, और पर्वतों में बैठकर गुरुजी द्वारा बतायी गयी इस कहानी को मैं याद कर रहा था। और देख रहा था कि मैं ही वह आत्माराम हूँ, जो इस संसार सराय में फँसा हुआ है। हाँ, इतना जरूर है कि अपने मार्गदर्शक, अपने गुरु की कृपा से, वासना कुमारी और तृष्णा कुमारी के चंगुल से मुक्त रहा हूँ। लेकिन फिर भी रह तो रहा हूँ इस संसार सदन में ही।

इस प्रकार चिंतन करते हुए अपने आगे के जीवन की दिशा को निश्चित कर रहा था। अपने जीवन के दूसरे अध्याय का पहला वाक्य लिख रहा था। यह जो कहानी आप लोगों को आज बतायी है, यह मेरे दूसरे अध्याय की शुरुआत है। अपने मार्गदर्शक के बताए हुए मार्ग पर ब्रह्मपुरी की ओर अब आगे बढ़ना है, और इस संसार रूपी सराय से निकलना है। लेकिन यह निकलना सरल है क्या? नहीं! हम सब संसार में रहते हैं, सब शरीर-धारी हैं, सब मन-धारी हैं। जब तक जीवित हैं, इसी शरीर, मन और बुद्धि से हमको

काम करना है। इन्हीं इन्द्रियों से हमें काम लेना है। तो क्या इस भौतिक जीवन में रहते हुए भी एक नए मार्ग को अपनाकर चलना सम्भव हो पाता है?

जीवन के दो मार्ग

इस प्रश्न पर जो चिंतन हुआ है, उसका निष्कर्ष यही है कि हर व्यक्ति अपनी जीवन-शैली को निश्चित करने के लिए स्वतंत्र है। अंत में देखा जाए तो हमारी जीवनशैली ही हमारे जीवन की दिशा निर्धारित करती है। इसलिए, इस सत्संग शृंखला का विषय हमने जीवनशैली ही रखा है। आने वाले दिनों में हम लोग देखेंगे कि विविध प्रकार की जीवनशैलियाँ किस प्रकार से हमें बंधन में डालती हैं, और किस प्रकार बंधनों से मुक्त भी करती हैं। साथ ही यह जानने का प्रयास करेंगे कि एक गत्यात्मक, सकारात्मक जीवनशैली का आधार क्या होना चाहिए जिसे हम सब अपने जीवन को उत्तम बनाने के लिए अपना सकते हैं।

जिसे हम भौतिक या सांसारिक जीवन कहते हैं, वह प्रवृत्ति-मार्गी जीवन है, और जिसे आध्यात्मिक जीवन कहते हैं, वह निवृत्ति-मार्ग है। हमारे शास्त्रों और हमारी परम्परा में इन दो मार्गों पर विस्तृत चर्चा की गई है। प्रवृत्ति-मार्ग से जुड़ी जीवनशैली अलग प्रकार की होती है, निवृत्ति-मार्ग से सम्बन्धित जीवनशैली अलग।

प्रवृत्ति और निवृत्ति की जीवनशैलियाँ किस प्रकार की होती हैं तथा एक सकारात्मक जीवनशैली को हम किस प्रकार अपना सकते हैं, इन विषयों पर आगे चर्चा होगी। अभी मैं केवल एक विचार आपके सामने रखना चाहता हूँ। प्रवृत्ति और निवृत्ति, इन दोनों में समान शब्द है 'वृत्ति'। एक में उपसर्ग लगा है 'प्र', और दूसरे में 'नि'। लेकिन मुख्य शब्द यहाँ पर 'वृत्ति' है। वृत्ति क्या होती है? वृत्त कहते हैं चक्र-आकार को। उसका आदि कहाँ है और अंत कहाँ, कह नहीं सकते। जो उस चक्कर में फँसा है, उसे कहते हैं वृत्ति। उस चक्र से हम अपने आप को मुक्त नहीं कर सकते। 'प्र' उपसर्ग का तात्पर्य उत्कृष्ट, प्रकृष्ट, बलवान् या उत्तम से है। तो प्रवृत्ति का मतलब हो जाता है प्रकृष्ट चक्कर, उत्तम चक्कर। अब इस प्रकृष्ट चक्कर के बारे में सकारात्मक तरीके से भी सोच सकते हो और नकारात्मक तरीके से भी। प्रकृष्ट का मतलब अच्छे या बुरे के रूप में नहीं लेना है, बल्कि प्रबलता के रूप में, जिसमें मनुष्य अपने आप को भूल जाए।

प्रवृत्ति का तात्पर्य उस मार्ग से होता है जिसमें मनुष्य अपनी वृत्ति में ही खो जाता है और उससे अपने आप को मुक्त नहीं कर सकता। उसी वृत्ति में सुख का अनुभव करता है, और उसी में दु:ख का। उसी वृत्ति में संतोष अनुभव करता है, उसी में असंतोष।

दूसरा शब्द है निवृत्ति। 'नि' उपसर्ग निरोध का द्योतक है। वृत्ति का निरोध निवृत्ति है। इसी का संकेत योगसूत्रों में भी दिया गया है– *योग: चित्तवृत्तिनिरोध:*। जिस वृत्ति में हम फँसे हुए हैं, जिससे हम अपने आप को मुक्त नहीं कर पा रहे हैं, उस अवस्था से, उस मनोस्थिति से अपने आप को मुक्त करने का प्रयास करना, यही निवृत्ति-मार्ग होता है।

संसार से हम अपने आप को कैसे अलग कर सकते हैं? जब तक हम इस संसार में यात्री हैं, तब तक हमें उन्हीं उपकरणों का सहारा लेना है जिनके साथ हम आए हैं। ये उपकरण शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और भावनाएँ हैं। इन्हीं का उपयोग करते हुए हमें संसार में जीना है। चाहे हम अपने आपको संसार से और अधिक बाँधें या संसार से मुक्त करें, दोनों प्रयोजनों के लिए उपकरण समान हैं। सांसारिकता में लिप्त मनुष्य भी इन्हीं उपकरणों का उपयोग करता है और एक जीवनमुक्त संत भी।

यात्रा की समाप्ति

इन दो प्रकार के मनुष्यों की समझ और दृष्टिकोण में आखिर क्या अंतर है? जीवनशैली का। प्रवृत्ति या निवृत्ति मार्ग में महत्त्व इस बात का है कि तुम किस प्रकार का जीवन व्यतीत करते हो, किस प्रकार अपने आपको अभिव्यक्त करते हो। प्रवृत्ति-मार्ग बन्धन की ओर ले जाता है, जबकि निवृत्ति-मार्ग स्वतंत्रता की ओर।

प्रश्न उठता है कि जीवनशैली कहते किसको हैं? मानसिकता, विचार, व्यवहार और कर्म का जो समग्र रूप होता है, उसी को जीवनशैली कहते हैं। जीवनशैली एक प्रकार की नहीं, अलग-अलग तरह की होती है। हर व्यक्ति अपनी आवश्यकता अनुसार किसी जीवनशैली को अपनाने के लिए स्वतंत्र है। हम लोगों ने जो जीवनशैली आज तक अपनायी है, वह भौतिक और सांसारिक है। लेकिन इस भौतिक और सांसारिक जीवनशैली के अतिरिक्त अन्य प्रकार की जीवनशैलियाँ भी होती हैं, जो मनुष्य को या तो सुख की ओर ले जाती हैं, या शांति की ओर, या ज्ञान की ओर या पूर्णता की ओर या

फिर अधोगति की ओर। अगर व्यक्ति चिंतन करे कि वह किस प्रकार अपने जीवन को और भी सुन्दर, समृद्ध, रचनात्मक और सकारात्मक बना सकता है, तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि अपनी जीवनशैली को थोड़ा अनुशासित और व्यवस्थित कर देने पर सुख, शांति एवं समृद्धि की प्राप्ति होगी।

जीवनशैली को जीवन के उत्थान और पतन के परिप्रेक्ष्य में समझना होगा। प्रवृत्ति और निवृत्ति, ये दो मार्ग हैं जो हमारी जीवनशैली को निश्चित करते हैं। जब मनुष्य प्रवृत्ति-मार्ग पर बढ़ता है, तो उसकी जीवनशैली एक प्रकार की होती है और जब वह निवृत्ति-मार्ग की ओर आता है तो स्वाभाविक रूप से उसकी जीवनशैली भिन्न हो जाती है। जीवनशैली अर्थात् मानसिकता, व्यवहार और कर्म को हमेशा बेहतर बनाया जा सकता है। अगर तुम्हें लगता है कि तुम अपनी जीवनशैली को बेहतर नहीं बना सकते तो तुम संसार सराय में फँसकर अपने रास्ते से भटक रहे हो। लेकिन अगर तुम्हारे अन्दर अपनी जीवनशैली को बदलने का रत्ती भर भी साहस, सामर्थ्य और संकल्प है, तो यह इस बात का संकेत है कि तुम अपने गन्तव्य, ब्रह्मपुरी तक कभी-न-कभी जरूर पहुँच सकते हो। तुम्हें जीवन में प्रेरणा और उत्साह की इसी डोर को थामे रहना है, जिसके सहारे तुम जीवन की विषम परिस्थितियों का डटकर सामना कर सकते हो।



प्रवृत्ति-मार्ग

24 जून, 2010

हमारे मनीषियों ने इस संसार में दो मार्ग निश्चित किये हैं। पहला मार्ग, जो संसाराभिमुख है, उसे प्रवृत्ति-मार्ग कहते हैं और दूसरा, जो हमें संसार से विमुख कर ईश्वराभिमुख करता है, उसे निवृत्ति-मार्ग कहते हैं।

मनुष्य इस शरीर में आकर मन, बुद्धि, इन्द्रियों और भावनाओं से प्रभावित होता है। स्वाभाविक रूप से उसका व्यक्तित्व संसार की ओर उन्मुख हो जाता है। यह सांसारिक व्यक्तियों के साथ भी होता है और साधु-संतों के साथ भी। शरीर, मन एवं इन्द्रियों को पाकर दोनों प्रकार के मनुष्य बाह्य, भौतिक एवं स्थूल मानसिक और भावनात्मक प्रक्रियाओं में संलग्न हो जाते हैं। इसलिए हर यात्रा प्रवृत्ति-मार्ग से ही प्रारम्भ होती है, यात्री चाहे कोई भी हो।

प्रवृत्ति दो शब्दों से बना है। 'प्र' उपसर्ग है, जो उत्कृष्टता, प्रबलता और गहन संलग्नता को इंगित करता है, और 'वृत्ति' शब्द भँवर जैसी चक्राकार गति का परिचायक है। प्रवृत्ति-मार्ग इन्द्रियों और इन्द्रिय-विषयों की ओर होने वाली चक्राकार यात्रा का द्योतक है।

संसार का स्वभाव नश्वर है। नश्वर का मतलब होता है–जो आज है कल नहीं रहता; जो जन्म लेता है और जिसकी मृत्यु होती है। नश्वर का तात्पर्य उस चीज से है जो परिवर्तनशील है, जो कभी स्थायी या शाश्वत नहीं रहती। संसार का यही स्वरूप है। जब जीव इस संसार में जन्म लेता है तब अपने वातावरण, समाज, विश्व और सृष्टि में नश्वरता का ही अनुभव करता है, जन्म और मृत्यु का ही अनुभव करता है, अमरत्व का नहीं। जन्म और मृत्यु की इस चपेट में जन्म लेकर हम इस संसार में जो भी व्यापार करते हैं,

जिस तरह से जीते, रहते, खाते, पीते, सोते और चिंतन करते हैं, जिस तरह से हमारा आचरण होता है, वह सब वृत्तियों के अधीन होता है। और वृत्तियाँ मन की अभिव्यक्तियाँ हैं।

वृत्तियाँ–मन की तरंगें

एक झील की कल्पना करो, जिसके जल में कोई हलचल नहीं। जब जल एकदम शांत और स्थिर रहता है तब उसमें आकाश भी दिखलाई देता है, बादल भी दिखलाई देते हैं, अलग-अलग परछाइयाँ दिखलाई देती हैं। जल की सतह एक आईने की तरह काम करती है। लेकिन अगर उस तालाब में कुछ हलचल हो जाए, जल चंचल हो जाए, तब उस चंचल जल में कुछ भी दिखलाई नहीं देगा। न आसमान दिखलाई देगा, न बादल दिखलाई देंगे, न और कोई दृश्य दिखलाई देगा।

निश्चल जल हम लोगों के शांत मन का प्रतीक है और चंचल जल हमारे मन की चंचल अवस्था का स्वरूप है। जब मन चंचल होता है तब उसमें स्पष्टता नहीं रहती। सब धुँधला दिखलाई देता है। यहाँ एक बात याद रखो कि जल को चंचल करने का कारण हमेशा वृत्त होता है। अगर बारिश की बूँदें जल पर गिरेंगी तो वहाँ गोलाकार वृत्त बन जाएँगे। अगर शांत जल में तुम पत्थर फेंकोगे, तो जहाँ पर भी वह पत्थर गिरता है, वहाँ से जल गोल आकार में किनारों की तरफ फैलने लगता है।

ठीक उसी प्रकार से हमारा मन जब बाह्य वस्तुओं और विषयों से प्रभावित होता है, तब मन की सतह पर भी वृत्त उत्पन्न होते हैं। जो वृत्त मन की शांत अवस्था को चंचल बना देता है उसे कहते हैं वृत्ति। जब मनुष्य संसार की ओर अभिमुख होता है तब आकर्षण, राग, द्वेष, वासना, इच्छा, घृणा, क्रोध और अंहकार–ये सब मन में एक वृत्त को उत्पन्न करते हैं और उस वृत्त में मन फँस जाता है। वृत्त में फँसकर मन एक वृत्ति के अधीन हो जाता है। उस समय जीवन के प्रति तुम्हारा दृष्टिकोण संकीर्ण हो जाता है। तुम्हारा दृष्टिकोण जितना संकीर्ण होगा, उतने ही तुम सांसारिक बनते जाओगे, क्योंकि तुम्हें वही दिखलाई देगा जो तुम्हारे सामने है–तुम्हारी आवश्यकता, महत्त्वांकाक्षा या वासना। तुम जिस भी चीज में संलग्न हो, वही चीज मुख्य हो जाती है। यह वृत्ति की उत्पत्ति का लक्षण है। वृत्तियाँ मन के संतुलन, सामंजस्य और शांति को हर लेती हैं। मन स्थूल और सांसारिक हो जाता है। मन के अन्य

पक्ष, जैसे, अहंकार, बुद्धि और स्मृति भी इस संकीर्णता से प्रभावित होने लगते हैं, जो इस बात को दर्शाता है कि वृत्ति प्रबल होती जा रही है।

योग दर्शन में वृत्ति की अवधारणा को अनेक तरीकों से समझाया गया है। सम्पूर्ण योग वांग्मय में अनेक प्रकार की वृत्तियों पर चर्चा है। घृणा, क्रोध, आसक्ति, मोह, मद और वासना, ये सभी वृत्तियाँ हैं। हम सभी अपनी वृत्तियों के इर्द-गिर्द ही चक्कर लगा रहे हैं। जब हम संसार से जुड़ते हैं तब कोई-न-कोई वृत्ति प्रबल हो जाती है और उसी वृत्ति के अनुसार हम संसार को देखते हैं। अगर किसी कारणवश घृणा की वृत्ति जन्म लेती है, तो घृणा का भाव मन में आ जाता है और वह हटाने पर भी नहीं हटता। न बुद्धि से हटता है, न विवेक से, न भावना से और न व्यवहार से। अगर क्रोध आ गया, तो उस वृत्ति को न तुम बुद्धि से नियंत्रण में ला पाते हो, न विवेक से, न भावना से, न व्यवहार से। असुरक्षा और भय की जो भावना उत्पन्न होती है, वह भी वृत्ति है। प्रेम, दया और करुणा की भावना भी वृत्ति है। जीवन वृत्तियों से मुक्त नहीं है, और हो भी नहीं सकता। इसीलिए योग दर्शन में योग के उद्देश्य को समझाते हुए कहा गया कि यह चित्तवृत्तियों के निरोध की प्रक्रिया है– *योग: चित्तवृत्तिनिरोध:*। यह नहीं कहा गया कि चित्तवृत्ति का विरोध या अवरोध होना है, बल्कि कहा गया कि चित्तवृत्ति का निरोध होना है। निरोध का मतलब होता है कि जो है उसे स्वीकार करते हुए उसके आगे बढ़ो।

जब हम सड़क पर गाड़ी चलाते हैं तो सड़क में बहुत सारे गड्ढे और कंकड़-पत्थर होने के बावजूद हम अपनी यात्रा रोकते नहीं, बल्कि बचते-सम्भलते हुए अपनी यात्रा जारी रखते हैं। सड़क पर जो गड्ढे थे, जो ऊबड़-खाबड़ रास्ता था, क्या हमने उसका विरोध किया? क्या उसका अवरोध हुआ? नहीं, यात्रा रुकी नहीं, रास्ता चाहे जैसा भी रहा हो। जैसे-जैसे रास्ता कठिन होता है, संकरा होता है, वैसे-वैसे हम और सजग बनकर, धीमी गति से अपनी यात्रा पूरी करने का प्रयास करते हैं। और जब मार्ग साफ मिलता है तब हम अपनी गाड़ी तेजी से आगे बढ़ाते हैं। यही उपाय, यही सिद्धान्त हर व्यक्ति को अपने मन के साथ भी लागू करना पड़ता है।

जब मन में कोई तकलीफ, विषाद, हर्ष या सुख हो, तब इन सब भावनाओं के प्रति सजग रहकर अपनी जीवन रूपी गाड़ी को धीरे-धीरे आगे बढ़ाना पड़ता है। दु:ख और विषाद रास्ते के गड्ढे हैं, जिनमें गाड़ी पहले नीचे जाती है और फिर ऊपर आती है। हर्ष और सुख रास्ते के 'स्पीड-ब्रेकर'

हैं, जिनमें पहले ऊपर जाते हैं, फिर नीचे आते हैं। जिस प्रकार तुम अपने शहर की सड़कों पर गाड़ी चलाते हो उसी प्रकार अपने मन को भी इस जीवन में चलाने की आवश्यकता है।

जीवन का पूरा संदर्भ वृत्तियों से ही जुड़ा हुआ है। इसीलिए कहा गया है कि जो संसार में प्रवेश करता है, वह वृत्तियों में घुसता जाता है और वृत्तियों के समूह में फँसकर अपनी आंतरिक स्पष्टता, विवेक एवं ज्ञान को भूल जाता है, और वृत्तियों के अनुसार ही कार्य करता है। इसी को कहते हैं प्रवृत्ति-मार्ग।

जिस प्रकार किसी मकान का निर्माण ईंट, सिमेंट, बालु, आदि से होता है, उसी प्रकार जीवन और संसार का निर्माण वृत्तियों से होता है। इसलिए कोई वृत्तियों से मुक्त नहीं हो सकता और मुक्त होने की कामना भी नहीं करनी चाहिए। केवल इतना करना चाहिए कि जो वृत्तियाँ हमारे जीवन में बन्धन और पतन का कारण बनती हैं, उनसे अपने आप को मुक्त करें, और जो वृत्तियाँ हमारे जीवन का अभ्युदय करती हैं उन वृत्तियों को अपनायें। इसलिए योग दर्शन में वृत्ति-निषेध की चर्चा नहीं की गई है। बल्कि कहा गया है कि जो भौतिक वृत्तियाँ हमें संसार से जोड़ती हैं उन वृत्तियों का अतिक्रमण करते हुए अपने जीवन में एक रचनात्मक मनोवृत्ति को धारण करो जो तुम्हारे उत्थान का कारण बन सके।

जब मनुष्य प्रवृत्ति-मार्गी होता है और संसार के अतिरिक्त उसे कुछ और सूझता नहीं, तब सबसे पहले वह जीवन में संयम का अभाव अनुभव करता है। दूसरी स्थिति होती है अनुशासन का अभाव। सांसारिक जीवन में संयम और अनुशासन, इन दोनों का अभाव हमेशा बना रहता है।



अमर्यादित जीवनशैली

अपने जीवन को देख लो। क्या तुम्हारा जीवन अनुशासित, मर्यादित और संयमित है? नहीं! तुम्हारे जीवन में कोई अनुशासन, मर्यादा, व्यवस्था या प्रणाली नहीं है। हर व्यक्ति अपनी मन-मर्जी के मुताबिक जी रहा है– 'मैं इस समय सोना चाहता हूँ, इस समय जागना चाहता हूँ, यह चीज खाना चाहता हूँ, इस व्यक्ति को पसन्द करता हूँ, वह आदमी मेरा दुश्मन है, मुझे अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को हर कीमत पर पूरा करना है'– यही तुम्हारा संसार है।

तुम्हारा संसार तुम्हारे सनकी मन का प्रतिबिम्ब है। राग-द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, घृणा, लोभ, तुम आज कौन-से कपड़े पहनना चाहते हो, आज क्या खाने चाहते हो, यह सब मन की सनक ही तो है। हर सनक का प्रयोजन दूसरों को प्रभावित करना होता है। तुम हमेशा दूसरों को प्रभावित करने की ताक में रहते हो ताकि दूसरे लोग तुम्हें विशिष्ट समझें। एक विशिष्ट पहचान बनाना–इसी ओर तुम्हारा प्रयास रहता है, और इसी तरह तुम जीते आ रहे हो। तुम्हारे जीवन में व्यवस्था नाम की कोई चीज नहीं है। न उठने की परवाह है, न सोने की, न खाने की, न काम करने की। कभी करते हो, कभी नहीं करते। मन में विचार आया, 'ऐसा करो' तो कर देते हो, मन में विचार आया 'मत करो' तो नहीं करते। मन में विचार आया, 'अच्छा करो' तो अच्छा कर देते हो। मन में विचार आया, 'बुरा करो' तो बुरा भी कर देते हो। जैसा-जैसा मन कहता है वैसा-वैसा तुम करते जाते हो। मन कहता है कि यह अच्छा है तो अच्छा मान लेते हो, मन कहता है कि यह बुरा है तो बुरा मान लेते हो। जब तुम अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा मान लेते हो और उसका कोई विकल्प तुम्हारे सामने नहीं रहता, तो उसका यही अर्थ होता है कि तुम एक ही वृत्ति में और गहराई में प्रवेश करते जा रहे हो।

तुम अपने मन के राग-द्वेष, स्वीकृति-अस्वीकृति के आधार पर विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध बनाते हो। क्या सही है और क्या गलत, इसके बारे में अपनी व्यक्तिगत राय बनाते हो। तुम्हारा हर विचार, हर व्यवहार किसी वृत्ति-विशेष द्वारा निर्देशित हो रहा है। एक ऐसे जीवन में जहाँ व्यवस्था और अनुशासन नाम की कोई चीज नहीं है, और तुम केवल इन्द्रिय-सुखों के पीछे भाग रहे हो, तुम संतुलन कैसे विकसित कर सकते हो?

आदमी जानने को तो बहुत कुछ जानता-समझता है, लेकिन जो जानता है, उसे व्यवहार में उतारने में उसे बहुत कष्ट होता है। कष्ट क्यों? वृत्ति के

कारण। और यह वृत्ति क्यों आती है? इसलिए कि संसार से हमारा परिचय और सम्बन्ध है। संसार से हमारा सम्बन्ध जितना प्रगाढ़ होता है, उतने ही हम संयम, अनुशासन, शांति और स्थिरता से दूर होते जाते हैं। हमारे गुरुजी बहुत बार मन का स्वभाव समझाया करते थे। वे कहते थे कि मन का स्वभाव बंदर की तरह चंचल होता है। बंदर कभी स्थिर और शांत नहीं बैठ सकता। वह पेड़ पर चढ़ता है, किसी फल को पकड़ता है, तोड़ता है, एक बार खाता है, फेंक देता है, दूसरा फल तोड़ता है, एक बार चखता है, फेंक देता है। पूरा फल कभी नहीं खाता। कभी-कभी तो खाये बिना ही फेंक देता है। एक फल से दूसरे फल, एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर हमेशा कूदते रहता है। वैसे ही हम लोग भी वासनाओं, कामनाओं और इच्छाओं के पीछे भागते रहते हैं। थोड़ा आगे बढ़ते हैं, लेकिन फिर मन में संदेह उत्पन्न होता है कि क्या मैं इस कार्य को पूरा कर भी पाऊँगा या नहीं। हम पीछे हट जाते हैं और वह कार्य अधूरा रह जाता है। सचमुच बंदर जैसा स्वभाव है हम लोगों के मन का, क्योंकि मन वृत्तियों के फेरे में है।

वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, सुखदायक और दुःखदायक। सुखदायक परिस्थिति सुख की वृत्ति को जन्म देती है और दुःखदायक परिस्थिति दुःख की वृत्ति को। न सुख में संतुलन और संयम होता है, न दुःख में। दोनों के प्रभाव में हम बह जाते हैं।

प्रवृत्ति-मार्ग चंचलता, अशांति और दुविधा का मार्ग है, जिसमें मनुष्य का सम्बन्ध इन्द्रियों के साथ रहता है और फलस्वरूप इन्द्रिय-सुख की इच्छा होती है। इन्द्रिय-सुख की कामना तो हर व्यक्ति करता है। अपने मन को भौतिक स्तर पर सुखी बनाने के लिए हर व्यक्ति प्रयास करता है, और अगर जीवन में कोई परेशानी होती है तो उस परेशानी में भी वह व्यक्ति लिप्त हो जाता है। लिप्त होने का मतलब शांति और स्थिरता से दूर होना– जो भी परिस्थिति है, उसे ही अपने भीतर अनुभव करते जाना और उसी में स्वयं को शाबाशी देते जाना या कोसते जाना। सुख में अपने को ही शाबाशी देते हो और दुःख में अपने को ही कोसते हो। काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, राग, आदि को तो हम प्रतिदिन अपने जीवन में जीते ही हैं। कौन इनसे मुक्त है? ये परिस्थितियाँ दर्शाती हैं कि हम संसाराभिमुख हैं, संसार से जुड़े हुए हैं, संसार में अपना व्यापार कर रहे हैं। जहाँ पर संयम और अनुशासन की कमी होती है, वहाँ पर सुख और शांति की प्राप्ति नहीं होती, बल्कि उद्दण्डता और अराजकता का ही सामना करना पड़ता है।



हमारा यह जो भौतिक जीवन है, वह संसार के विषयों, वस्तुओं और वासनाओं से प्रभावित होकर हमें एक निश्चित जीवनशैली की ओर प्रेरित करता है। वही जीवनशैली आज हम सभी अपने घरों में जीते भी हैं। अपने घर की परिस्थिति को एक बार देख लो। कौन कितने बजे सोता है, कौन कितने बजे उठता है, कौन क्या खाता है, कौन क्या नहीं खाता है, कौन क्या पहनता है, कौन क्या नहीं पहनता है, किसकी कौन-सी इच्छाएँ हैं, किसके भीतर द्वेष है, किसके भीतर प्रेम है? जब हम अपने परिवार वालों को देखते हैं तो उनके व्यवहार, मानसिकता और चिंतन में सांसारिकता ही दिखलाई देती है। हम अच्छे कपड़े पहनना चाहते हैं, अच्छा भोजन खाना चाहते हैं, वैभवपूर्ण जीवन जीना चाहते हैं–ये सब संसार की छवियाँ हैं जो हमारी इच्छाओं और वासनाओं के कारण हमारे मन में दिखलाई देती हैं।

वृत्तियों की तीव्रता को कम करना

योग के अनुसार जीवन में संतुलन लाने के लिए संयम और अनुशासन अपनाना जरूरी है। साधना की शुरुआत संयम और अनुशासन के साथ होती है। साधना का मतलब ही हुआ संयम और अनुशासन का समन्वय। साधना का तात्पर्य केवल आसन करने या ध्यान लगाने से नहीं है। वे तो केवल अभ्यास और विधियाँ हैं जिनके माध्यम से तुम अपने स्वभाव एवं व्यक्तित्व में सकारात्मक परिवर्तन और अपने जीवन में संयम, अनुशासन

एवं सुव्यवस्था ला सकते हो। गणित की भाषा में अगर इस सिद्धान्त को कहा जाए तो संयम + अनुशासन + अभ्यास = साधना।

भौतिक जगत् में मुख्यतः तमोगुण और रजोगुण ही प्रबल होते हैं, सतोगुण नहीं। मनुष्य अपने जीवन में प्रायः सत्त्व धारण नहीं करता। अगर तुम्हें लगता है कि तुम सत्त्व से परिपूर्ण हो, तो यह तुम्हारी गलतफहमी है। तुम्हारे जीवन में सत्त्व की कोई गुंजाइश नहीं क्योंकि तुम वृत्तियों के भँवर में फँसे हो। ऐसे बहुत लोग हैं जो भगवान का दर्शन करना चाहते हैं, अपने जीवन में दिव्यता का अनुभव करना चाहते हैं, पर अपने आस-पास के लोगों के साथ अच्छे सम्बन्ध नहीं रख पाते। क्या ऐसे लोगों को भक्त की संज्ञा दी जा सकती है? कभी नहीं। अगर तुम अपना व्यवहार और बर्त्ताव नहीं सुधार सकते, तो ईश्वर-दर्शन के सपने देखना छोड़ दो। अगर अपनी वृत्तियों और उनकी प्रतिक्रियाओं को नहीं सँभाल सकते तो सुख-शांति की बातें भूल जाओ। अगर तुम बगल बैठे इन्सान को मुस्कान नहीं दे सकते तो भक्त होने या जीवन में दिव्यता अनुभव करने की अपेक्षा भी मत रखो।

तमोगुण और रजोगुण ही प्रवृत्ति-मार्ग को निर्देशित करते हैं। जबकि सत्त्व-गुण प्रवृत्ति-मार्ग को नहीं, निवृत्ति-मार्ग को निर्देशित करता है। जैसे-जैसे तुम वृत्तियों में फँसते जाते हो, वैसे-वैसे तामसिक गुण उभरने लगते हैं। जैसे-जैसे वृत्तियों की संख्या बढ़ती जाती है, राजसिक गुण उभरते हैं। तमस् और रजस् के प्रबल होने पर तुम्हारा मन तथा व्यवहार भी तामसिक एवं राजसिक हो जाता है। तुम आक्रामक हो जाते हो, दूसरों पर नियंत्रण और शासन करना चाहते हो।

समाज में तुम्हारी जीवनशैली इन वृत्तियों के कारण तामसिक और राजसिक होती है। जब जीवनशैली राजसिक रहती है, तब मन में एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी वासना का जन्म होते रहता है। कामनाओं का कभी अंत नहीं होता। जब हमारा जीवन राजसिक होता है तब हम नाम-यश-कीर्ति को ही अपने जीवन का आधार मानते हैं। दूसरे के द्वारा पहचान ही हमारे जीवन का आधार बनती है। अगर हम अच्छा काम करें और दूसरे लोग उस काम को देखें नहीं तो मन में लगता है कि मैंने इतना अच्छा किया और दूसरों को परवाह तक नहीं। यह राजसिक जीवनशैली का लक्षण है।

बहुत-से लोग धर्मशाला बनवाते हैं, कमरे बनवाते हैं। कहते हैं कि दूसरों को इससे फायदा होगा। भावना अच्छी है लेकिन इस भावना के पीछे

भी सांसारिकता छिपी है क्योंकि कमरा या धर्मशाला बनाकर वे लोग बाहर संगमरमर पर खुदवा देते हैं कि फलाने व्यक्ति ने इसे बनाया, ताकि हर कोई उसे देखे और कहे, 'वाह रे वाह, कितना अच्छा काम किया है इस व्यक्ति ने!' यह राजसिक जीवनपद्धति है।

राजसिक के अलावा तामसिक जीवनशैली भी होती है। जब व्यक्ति किसी दायरे में अपने आप को सुरक्षित पाता है और संघर्ष के डर से उस दायरे से बाहर निकलना नहीं चाहता, तब वह जीवनशैली तामसिक है। कुएँ का मेंढक सोचता है कि कुआँ ही मेरा संसार है और इससे बढ़कर दूसरी कोई चीज नहीं। वैसे ही तामसिक व्यक्ति भी चिंतन करता है कि यही मेरा संसार है और इसके आगे कुछ नहीं। वह अपने आप में किसी परिवर्तन, किसी अच्छाई की खोज नहीं करता। सोचता है, 'जैसा हूँ, उसी में संतुष्ट हूँ।'

इस तरह प्रवृत्ति-मार्ग में हम लोग राजसिक और तामसिक अवस्थाओं में ही इधर-उधर करवट बदलते रहते हैं। वासनाओं का जन्म होता है, कर्मों का जन्म होता है, विचारों का जन्म होता है, लेकिन ये विचार मनुष्य के क्षणिक सुख के साथ ही जुड़े रहते हैं, अन्तरात्मा की खोज के साथ नहीं। प्रवृत्ति-मार्ग में संयम नहीं, अनुशासन नहीं, व्यवस्था नहीं, शांति नहीं, केवल खोखलापन रहता है।

लोगों से अगर पूछा जाए कि जब आप 25 साल के थे और आज जब आप 50 साल के हो, दोनों अवस्थाओं में आपकी महत्त्वाकांक्षाओं और वासनाओं में कुछ अंतर आया है कि नहीं, तो बहुत-से लोग कहेंगे कि अंतर नहीं आया है, और कुछ कहेंगे कि हाँ, अंतर आया है। अपने जीवन के साथ जिसकी जैसी अपेक्षा, वैसा ही वह उत्तर देगा। अगर हमारे जीवन में अपेक्षाएँ और वासनाएँ बहुत हैं, अगर हम सांसारिक स्तर पर बहुत नाम, यश, कीर्ति, समृद्धि, आदि प्राप्त करना चाहते हैं तो शायद हम कहेंगे कि कोई अंतर नहीं आया है। 25 साल की अवस्था में कुछ बनने का, कुछ करने का जो जुनून था वह 50 साल में भी बरकरार है। और कुछ लोग कहेंगे कि कमी आयी है, क्योंकि उन्होंने जीवन की मार खायी है और समझ पाये हैं कि मेरे लिए क्या उचित है और क्या अनुचित, उचित की ओर कैसे जाना और अनुचित से कैसे अपने आपको दूर रखना। ऐसे लोग ही कह पाते हैं कि 25 वर्ष और 50 वर्ष की बुद्धि, सोच, समझ, अपेक्षाओं और महत्त्वाकांक्षाओं में अंतर आया है।

जो कुछ भी हो, हम तो इसी प्रवृत्ति-मार्ग में आगे बढ़ रहे हैं और इस मार्ग में आगे बढ़ते हुए हम किस प्रकार अपने जीवन को सकारात्मक बना सकते हैं, किस प्रकार तामसिक और राजसिक वृत्ति से अपने आपको मुक्त करके अपने जीवन में सात्त्विक वृत्ति को स्थान दे सकते हैं, यह प्रश्न उठता है। मैं अभी केवल प्रवृत्ति-मार्ग की बात कर रहा हूँ क्योंकि यहाँ पर बैठे हम सब लोग प्रवृत्ति-मार्गी हैं। अभी इस पर चिंतन होना चाहिए कि प्रवृत्ति मार्ग में हमारी जो तामसिक और राजसिक अवस्था है, उसे हम कैसे सत्त्व में परिवर्तित करेंगे।

हम समाज में रहते हैं, संसार में जीते हैं। समाज में अपनी नौकरी, व्यवसाय और परिवार है। परिवार की अपनी अपेक्षाएँ, मान्यताएँ और चिंतन हैं। हमारा अपना एक व्यवहार है, अपना एक व्यक्तित्व है। इन सब के साथ रहते हुए किस प्रकार हम अपने जीवन को सात्त्विकता की ओर ले जाएँ? हमारे मनीषियों ने इसके बारे में एक बहुत सुंदर सूत्र दिया है। कहते हैं कि दिन और रात मिलाकर पूरे 24 घण्टे होते हैं। इन 24 घण्टों में से 23 घण्टे तुम संसार को दो और एक घण्टा अपने आत्मोत्थान के लिए अलग रखो। 23 घण्टों में तुम्हें समाज में, संसार में जो उल्टा-सीधा करना है, करो। लेकिन एक घण्टा अपने आत्मोत्थान के लिए, अपने आत्म-निरीक्षण के लिए, अपने आत्म-परीक्षण के लिए अलग रखकर अपनी साधना के लिए उस समय को निश्चित कर लो। एक घण्टे के लिए भी अगर हम इस प्रकार का आत्म-निरीक्षण, आत्म-परीक्षण और साधना का कार्य कर सकते हैं, तो प्रवृत्ति-मार्ग पर चलते हुए भी हम एक सात्त्विक विचारधारा, व्यवहार और आचरण को अपना सकते हैं। और वह हमारे प्रवृत्ति-मार्गी जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धी रहेगी।

सात्त्विकता वह प्रक्रिया है जो तमस् और रजस् के नकारात्मक परिणामों को रूपान्तरित करने के लिए अपनायी जाती है, और यह तभी सम्भव होता है जब हम अपने जीवन में साधना को अपनाते हैं। ऋषि-मुनियों और योगियों ने निश्चयपूर्वक घोषित किया है कि जीवन में तामसिक और राजसिक वृत्तियों को अवश्य कम किया जा सकता है, जिसके लिए साधना के विभिन्न क्रमों से गुजरना पड़ता है। इनमें पहला है संयम और अनुशासन का अभ्यास। अगर तुम्हारे जीवन में न साधना है, न संयम और न ही अनुशासन, तो तुम्हारे जीवन में सत्त्व कभी नहीं आ सकता।

संयम के तीन स्तर

हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि संयम का तात्पर्य अपने ऊपर अंकुश रखने से है। तीन प्रकार के संयम होते हैं–वाणी, विचार और इन्द्रिय संयम।

वाणी संयम–मनुष्य की अभिव्यक्ति वाणी के द्वारा ही होती है। मनुष्य अपने आप को संसार से वाणी के द्वारा ही जोड़ता है। वाणी हमारे मन की अवस्था को दर्शाती है। जैसा मन का रूप होता है, वैसी वाणी होती है। अगर मन का रूप चंचल रहे, तो वाणी में भी चंचलता दिखलाई देगी। अगर मन तामसिक रहे, तो वाणी में भी तामसिक शब्द, बुरे शब्द प्रकट होंगे। वाणी मन की सूक्ष्म स्थिति की स्थूल अभिव्यक्ति है।

चूँकि वाणी बोलने की प्रक्रिया है, इसे नियंत्रित करना अपेक्षाकृत सरल है। इसके लिए वाणी में सत्यता और प्रियता लानी चाहिए। लोगों को एक-दूसरे से कड़वे शब्द कहने की आदत है। वाणी में प्रियता लाने के लिए सबसे पहले अपनी बोली से कटुता हटा दो। प्रियता का मतलब यही है कि तुम्हारे शब्दों से सुनने वालों का मन उद्विग्न या परेशान न हो।

एक राजा की कहानी आती है जो अपना भविष्य जानने के लिए बेहद उत्सुक था। उसने किसी ज्योतिष-विशारद को अपनी जन्मकुण्डली दिखायी और कहा, 'इसे देखकर बतलाओ मेरे भाग्य में क्या लिखा है।'

ज्योतिषी ने कुण्डली देखकर सोचा, 'यहाँ तो दुर्भाग्य ही दुर्भाग्य नजर आ रहा है।' उसने राजा से कहा, 'राजन्, मुझे इस जन्मकुण्डली में आपके राज्य के विनाश और आपके परिवारजनों की मृत्यु की झलक दिखलाई दे रही है!' यह सुनकर राजा क्रोध से आग-बबूला हो गया। उसने कहा, 'तुम्हारी यह मजाल! मेरी राजसत्ता चरम उत्कर्ष पर है, और तुम मेरे कुल और राज्य के सर्वनाश की बात कर रहे हो! सैनिकों, इसे ले जाकर कारागार में डाल दो।' और उस ज्योतिषी को कारागार में डाल दिया गया।



राजा ने तब किसी दूसरे ज्योतिषी को बुलाया। उसे भी

कुण्डली में वही भविष्य दिखलाई दिया, पर उसे मालूम था कि पहले ज्योतिषी की क्या दुर्गति हुई है। उसने थोड़ा सोच-विचार कर राजा से कुछ इस प्रकार कहा, 'महाराज! मैंने आज तक ऐसी जन्म-कुण्डली नहीं देखी! आप दीर्घायु हैं। आप अपने राज्य, अपने सभी सगे-सम्बन्धियों, यहाँ तक कि अपने पोते-पोतियों से भी अधिक जीवित रहेंगे।'

यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसे ढेर सारे कीमती उपहार दिये। देखा जाए तो दूसरे ज्योतिषी ने भी वही बात कही थी, लेकिन दूसरे ढंग से। पहले ज्योतिषी ने कहा, 'मुझे विनाश और मृत्यु दिखलाई दे रही है' और उसे कारागार में डाल दिया गया। दूसरे ने कहा, 'मुझे आपकी दीर्घ आयु दिखलाई दे रही है' और उसे इनाम मिला। दोनों ने एक ही बात कही, अंतर केवल शब्द और भाषा का था।

वाणी का यही प्रभाव होता है। तुम इसे रोज अपने जीवन में अनुभव करते ही होगे। अगर कोई तुम्हें गाली देता है तो तुम्हारी क्या प्रतिक्रिया होती है? अगर कोई तुम्हारी प्रशंसा करता है, तब तुम्हारा व्यवहार कैसा होता है? कोई अजनबी तुम्हारे पास आकर कहे, 'तुम लाजवाब हो' तो तुम फूले नहीं समाओगे। दूसरा अजनबी आकर कह दे, 'तुम बेकार हो, किसी लायक नहीं हो' तो तुम तुरन्त विषादग्रस्त हो जाओगे। वाणी में ऐसी क्षमता है। ऐसा नहीं कि सिर्फ तुम्हारे परिवारजनों या परिचितों के शब्दों का ही तुम पर असर पड़ता है। अजनबियों के शब्द भी तुमपर असर करते हैं।

वाणी संयम के लिए वाणी में सत्यता और प्रियता लानी चाहिए। यह साधना हर कोई कर सकता है। आजमा कर देख लो, लाभ तुम्हें ही मिलेगा। जीवन की हर परिस्थिति में वाणी संयम का अभ्यास करो। यहाँ आश्रम में हम लोग कुछ घण्टों के लिए मौन का अभ्यास करते हैं। लोग समझते हैं कि मौन का मतलब चुप रहना, बिल्कुल नहीं बोलना। यह मौन के अभ्यास का प्रारम्भिक तरीका हो सकता है, लेकिन मौन शब्द का यह वास्तविक अर्थ नहीं। मौन शब्द का वास्तविक अर्थ होता है नपी-तुली वाणी। यह अर्थ मौन के मूल शब्द 'माप' से निकलता है। अगर तुम प्रारम्भ में उचित और नपी-तुली वाणी नहीं बोल सकते तो कुछ भी मत बोलो। आखिर अधिकांश समय जो बोलते हो, वह क्या होता है? गपशप, आलोचना, इधर की बात उधर लगाना। दिनभर यही सब तो चलता है। तुम वाणी के माध्यम से अपनी इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति में ही लगे रहते हो। ऐसी वाणी में कोई

शक्ति नहीं होती, वह निर्जीव और निरर्थक होती है। अपनी दिनभर की बातों का कभी विश्लेषण करो। कितनी बातें काम की थीं और कितनी बेकार की गपशप? अगर ईमानदारी से ऐसा विश्लेषण करोगे तो तुम हैरान रह जाओगे। सौ वाक्यों में से शायद दस ही काम के रहे हों, बाकी नब्बे व्यर्थ और नकारात्मक होंगे। प्रारम्भ में लोग समझ नहीं पाते कि उचित वाणी क्या होती है, इसलिए उन्हें मौन का अभ्यास चुप रहकर करना पड़ता है। जब तुम्हारे भीतर आत्म-सजगता विकसित हो जाती है और तुम अपने विचारों को वाणी में व्यक्त करने से पहले उन्हें देख-समझ सकते हो, तब तुम संयमित और नपी-तुली वाणी का प्रयोग कर पाते हो।

जब तुम किसी पुस्तक का सम्पादन करते हो, तो कुछ शब्दों और वाक्यों को हटा देते हो और कुछ एक जोड़ देते हो। तुम एक वाक्य में तब तक फेर-बदल करते रहते हो जब तक कि तुम उसके अर्थ से सन्तुष्ट नहीं हो जाते। इसी प्रकार तुम्हें अपनी वाणी का भी सम्पादन करना है। कुछ भी बोलने से पहले उसका उचित सम्पादन कर लो। यही नपी-तुली वाणी है, यही सच्चा मौन है। इस सम्पादन की प्रक्रिया में अपनी वाणी में सत्यता और प्रियता लाओ। ऐसे में तुम हर समय वाणी संयम का अभ्यास कर सकते हो।

वाणी संयम का एक और पक्ष है स्पष्टता। बोलने से पहले दो बार सोच लो कि क्या बोलने जा रहे हो। जो बोल रहे हो उसका अर्थ सही निकल रहा है या नहीं, दूसरा व्यक्ति उसको समझ पा रहा है या नहीं। यह वाणी की स्पष्टता है। एक बार वाणी में स्पष्टता आयेगी तो व्यवहार में भी स्पष्टता आयेगी। इसीलिए आत्माराम की कहानी में जो मार्गदर्शक थे, वे किसी से मिलते नहीं थे। एकांत में रहते थे, इस भाव के साथ कि *हर हाल में अलमस्त सच्चिदानन्द हूँ; चिदानन्द, चिदानन्द, चिदानन्द हूँ।*

जो व्यक्ति सभी लोगों से बात करता है, वह अपने आप को और भ्रमित कर देता है, क्योंकि दूसरों की मानसिक तरंगें उस व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। मनुष्य ने भले ही यह भौतिक शरीर धारण किया है, लेकिन उसका मूल अस्तित्व ऊर्जा का ही है। जो हम बोलते हैं, जो हम सोचते हैं, वह तरंग रूप में चारों तरफ फैलता है। अभी तुम्हारे मन में जो विचार उत्पन्न हो रहा है, चाहे अच्छा हो या बुरा, वह भी तरंग रूप में चारों तरफ फैल रहा है।

विचार तरंग रेडियो तरंग जैसी होती है। रेडियो तरंग वायुमण्डल में चारों तरफ व्याप्त है, लेकिन दिखायी नहीं देती। उस रेडियो तरंग को पकड़ने

के लिए रेडियो यंत्र की आवश्यकता होती है। केवल रेडियो यंत्र ही पर्याप्त नहीं, उसके डायल को घुमाकर सही रेडियो स्टेशन की खोज भी करनी पड़ती है। एक बार तुम्हें स्टेशन मिल जाता है, तब रेडियो तरंग ध्वनि के रूप में रेडियो से बाहर निकलती है और तुम्हें सुनायी पड़ती है। रेडियो यंत्र के न होने पर तुम यह नहीं कह सकते कि रेडियो तरंग नहीं है।

एक छोटी-सी घटना याद आ रही है। अपने गुरुजी के साथ एक बार टैक्सी से यात्रा कर रहे थे। हम दो-तीन संन्यासी उस गाड़ी में बैठ हुए थे। टैक्सी ड्राइवर थोड़ा नास्तिक था। पहले तो संन्यासियों को देखकर उसे अच्छा नहीं लगा कि कहाँ से बाबा लोग आकर मेरी गाड़ी में बैठ गये हैं। फिर कुछ समय के बाद उसने बातचीत शुरू की– 'आप लोग कहाँ से आये हैं, क्या करते हैं? मैंने तो बहुत-से बाबा लोगों को देखा है। सब दुनिया वालों को धोखा देते हैं, लूटते हैं।' इस तरह की कई बातें कहनी शुरू कर दीं। बात-बात में उसने यह भी कह दिया कि 'सब बाबा लोग भगवान को मानते हैं लेकिन मैं तो भगवान को बिल्कुल नहीं मानता। अगर भगवान होते तो हमलोग देख सकते। हज़ारों सालों से कितने लोगों ने भगवान को देखने का प्रयास किया, लेकिन किसी ने उसे देखा नहीं आजतक। सब झूठ है, सब बकवास है। क्यों स्वामीजी, मैं ठीक बोल रहा हूँ या गलत?' उसने श्री स्वामीजी से सीधा प्रश्न किया।

श्री स्वामीजी कुछ देर चुप रहे। फिर उन्होंने कहा, 'जो तुम सोचते हो सो ठीक है। लेकिन मेरे एक सवाल का पहले तुम जवाब दो। क्या तुमने रेडियो तरंग को कभी देखा है?' अब ड्राइवर की बारी थी चुप होने की। थोड़ी देर बाद उसने धीरे से कहा, 'नहीं, मैंने रेडियो तरंग को तो कभी नहीं देखा।' 'लेकिन उसका अंदाज़ तो तुम्हें मिलता है न, जब तुम रेडियो चलाते हो?' 'हाँ, मिलता है।' तब श्री स्वामीजी ने कहा, 'उसी प्रकार से भगवान भी एक तरंग हैं, जिनको तुम देख नहीं सकते। लेकिन अगर तुम अपने मन रूपी रेडियो को फाइन-ट्यून कर लोगे, तो उस तरंग को भी तुम ग्रहण कर सकोगे। तब तुम्हें भगवान के अस्तित्व का प्रत्यक्ष आभास हो जायेगा।'

यह जो बात श्री स्वामीजी ने उस टैक्सी ड्राइवर से कही थी, उसी बात को मैं आज यहाँ पर दोहरा रहा हूँ। जो कुछ भी हमारे जीवन मे है, उसका अनुभव तरंग रूप में होता है। आखिर सुख क्या है? सुख भी तो एक तरंग है, जिसे हम अपनी इन्द्रियों में, अपने मन में अनुभव करते हैं। दुःख क्या है?

दु:ख भले ही कोई बाहरी परिस्थिति हो, लेकिन उसका अनुभव तो हमें एक तरंग के रूप में होता है न। और वह तरंग हमारे मन को, हमारी भावनाओं को प्रभावित कर रही है। तामसिक, राजसिक और सात्त्विक, इन गुणों का अनुभव भी हमें तरंग रूप में होता है। जो अच्छा है, उसका भी तरंग रूप में अनुभव होगा, जो बुरा है, उसका भी।

इस प्रकार जीव संसार की तरंगों को ग्रहण करता है, और अपनी तरंगों को संसार में प्रेषित करता है। जिन तरंगों का संसार के साथ आदान-प्रदान होता है, वही हम लोगों का मन है। इस मन में जब दुर्व्यवहार होता है, वह प्रकट होता है वाणी में। इसीलिए वाणी संयम के बारे में सबसे पहले कहा गया। जो शब्द तुम्हारे मुँह से निकल रहे हैं, जो अभिव्यक्ति तुम कर रहे हो, वह इस प्रकार की होनी चाहिए कि किसी को उससे गलतफहमी, हानि या दु:ख न हो। इसीलिए हमारी परम्परा में कहा गया– *सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्*। वाणी संयम का आधार है सत्यता और प्रियता। अगर कोई वाणी संयम को प्राप्त करना चाहे तो इन दो तरीकों को अपनाना पड़ेगा।

मानसिक संयम– संयम का दूसरा रूप मानसिक है। मानसिक संयम हासिल करने के लिए तुम्हें अपने मन का अवलोकन करना होगा। मन के अवलोकन का सबसे अच्छा तरीका अपने विचारों या मानसिक गतिविधियों को देखना नहीं, बल्कि अपने सामर्थ्यों, कमजोरियों, महत्त्वाकांक्षाओं और आवश्यकताओं को जानना है।

सामर्थ्य जीवन की सकारात्मक और सात्त्विक शक्तियों के प्रतीक हैं। कमजोरियाँ उन तामसिक बन्धनों और सीमाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं जिनसे तुम उबर नहीं पाते। महत्त्वाकांक्षाएँ राजसिक प्रवृत्तियों की प्रतीक हैं और आवश्यकताएँ तीनों का समन्वित, सन्तुलित रूप हैं।

सामान्य जीवन में हम अपनी कमजोरियों और महत्त्वाकांक्षाओं के प्रति ही अधिक सजग होते हैं। हमारा मन अपेक्षाओं और वासनाओं के पीछे भागता है। जैसे भूखा आदमी भोजन के पीछे भागता है, जैसे थका हुआ आदमी शैय्या की कामना करता है, वैसे ही मन जब तक सक्रिय है, संसार से जुड़ने की ही कामना करता है, सांसारिक भोगों को पाने की ही कामना करता है। जब हम अपनी मनोवांछित चीज नहीं प्राप्त कर पाते, तब अपनी सीमाओं और कमजोरियों के प्रति सजग बनते हैं, और वे हमें विषाद और निराशा की ओर खींच ले जाती हैं।



मन को सामर्थ्यों, कमजोरियों, महत्त्वाकांक्षाओं और आवश्यकताओं की दृष्टि से देखना है। हर व्यक्ति के जीवन में, मन में कुछ क्षमताएँ, कुछ प्रतिभाएँ होती हैं। इन्हीं क्षमताओं और प्रतिभाओं के कारण जीवन में हमारी अपनी पहचान होती है। किसी प्रतिभा या क्षमता को देखकर हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बहुत अच्छा है, या बहुत सजग है, जागरूक है, सहयोग देता है या प्रेम करता है। क्षमता और प्रतिभा को देखकर हम किसी व्यक्ति की पहचान बनाते हैं। तुम अच्छे हो या बुरे हो, इसका ज्ञान हमें कैसे होगा? तुम्हारी प्रतिभा और क्षमता ही हमें यह जानकारी दिलाएगी। तुम्हारी प्रतिभा तुम्हारी कार्यशैली और चिंतनशैली में दिखलाई देगी। उसी से हम निर्णय पर पहुँचेंगे कि तुम कैसे व्यक्ति हो। अगर तुम अपने मन की प्रतिभाओं को विकसित कर पाते हो, तो तुम अपने भीतर सत्त्व के स्तर को बढ़ा रहे हो। तुम ऐसे गुण अर्जित कर रहे हो जो तुम्हें विकास की दिशा में ले जाएँगे।

कमजोरी एक सीमा को दर्शाती है, जिसके आगे हम बढ़ नहीं पाते। एक बार चिंतन करो कि तुम्हारे जीवन में कौन-कौन सी कमजोरियाँ हैं। अगर तुम्हारे अन्दर असुरक्षा की भावना या क्रोध या वासना प्रबल है, तो मान लो कि तुम में तमोगुण प्रबल है। ये सब कमजोरियाँ मनुष्य के जीवन को विकसित होने से रोकती हैं और एक सीमा के भीतर ही मनुष्य की भावना को घुमाती रहती हैं। सीमाएँ और कमजोरियाँ तामसिक हैं। कमजोरियों से जुड़ने पर तुम तामसिक बनते हो, जबकि प्रतिभाओं से जुड़ने पर सात्त्विक।

इसी प्रकार मन की एक अन्य स्थिति होती है महत्त्वाकांक्षाओं की। हर व्यक्ति अपने जीवन में कुछ महत्त्वाकांक्षाओं को लेकर चलता है। अपने

परिवार के लिए अथवा अपने लिए महत्त्वाकांक्षाएँ रहती ही हैं। लेकिन बहुत बार हमारी बुद्धि सांसारिक वृत्तों में फँसी होती है और हम निर्णय नहीं ले पाते कि हमारी महत्त्वाकांक्षा हमारे लिए हितकर है या अहितकर, उपयोगी है या अनुपयोगी। बहुत बार हम अपनी महत्त्वाकांक्षा को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं। जब हमारी महत्त्वाकांक्षा जीवन का लक्ष्य बनती है, तब हम भौतिक वृत्ति में और फँस जाते हैं। महत्त्वाकांक्षाएँ रजोगुण को अधिक प्रबल बनाती हैं।

इस प्रकार तमोगुण हमारे जीवन में कमजोरी है, रजोगुण महत्त्वाकांक्षा और सत्त्वगुण प्रतिभा, तथा तीनों गुणों की जो साम्यावस्था है, वह है जीवन की आवश्यकता। हमारे जीवन में भोजन, वस्त्र, आदि की जो आवश्यकता है, वह न तो तमोगुण है, न रजोगुण और न ही सत्त्वगुण। वह मात्र एक आवश्यकता है। राजा को भी वस्त्र चाहिए और फकीर को भी। किस प्रकार का वस्त्र, वह बात अलग है। लेकिन वस्त्र की आवश्यकता हर व्यक्ति को है। आहार हर व्यक्ति की आवश्यकता है। रोटी, कपड़ा और मकान, यह हर व्यक्ति की आवश्यकता है, चाहे वह राजा हो या रंक। एक साधु को भी लंगोटी के लिए वस्त्र चाहिए ही, पेट भरने के लिए सूखी रोटी चाहिए ही, शरीर को सूखा रखने के लिए एक छत चाहिए ही। यह तो हर व्यक्ति की आवश्यकता है और आवश्यकता में तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। वहाँ पर न तमोगुण है, न रजोगुण और न सत्त्वगुण।

इन आवश्यकताओं में महती आवश्यकता रजोगुणी हो जाती है। जैसे, कपड़ा हमारी आवश्यकता है, लेकिन अगर बाजार जाकर हम फैशन वाला कपड़ा खरीदते हैं तो वह रजोगुण है। हमें जूता चाहिए। एक सामान्य जूता नहीं, हमें महँगा वाला ही चाहिए। यह रजोगुण है। आवश्यकता अपने आप में साम्यावस्था है, लेकिन उसमें जब महत्त्वाकांक्षा जुड़ जाती है तब वह रजोगुणी हो जाती है।

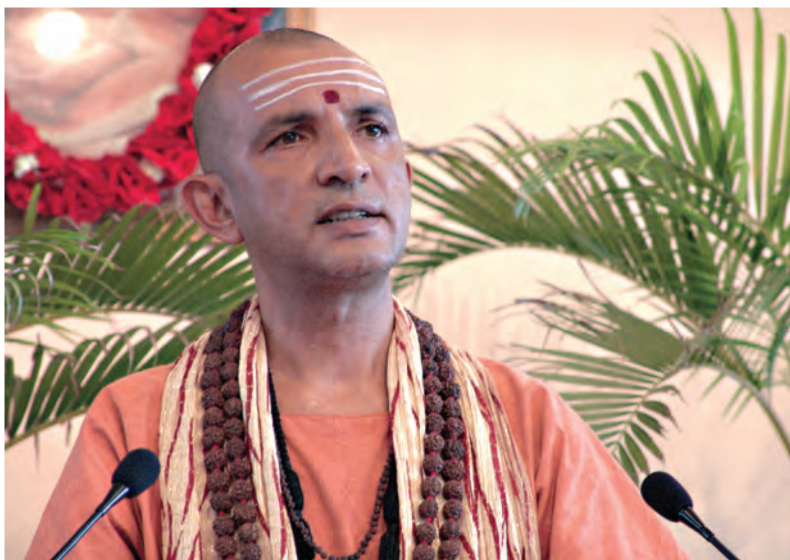
ये चार अवस्थाएँ मन को विचलित करती हैं, मन की शांत अवस्था में अनेक प्रकार के वृत्तों को जन्म देती हैं जो हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं। इसलिए मानसिक संयम का पहला चरण है इन अवस्थाओं को पहचानना और इनके प्रति सजग बनना। इन अवस्थाओं को पहचानो, समझो और सम्भालो। मन के संयम की शुरुआत होती है ध्यान के साथ। पाँच-दस मिनट शांति से बैठ जाओ, और इन पाँच-दस मिनटों में एक बार

मानसिक अवस्थाओं का अवलोकन कर लो कि मेरे मन की स्थिति किस प्रकार की है, मेरे मन में कौन-सा गुण अभी ज्यादा विकसित है, कौन-सा गुण अभी दुर्बल है। जो अनावश्यक मनो:स्थिति है उससे अपने आप को मुक्त करने का प्रयास करना है। अगर घृणा होती है तो पाँच मिनट शांति से बैठकर देख लो कि घृणा क्यों होती है, इसका कारण क्या है, मैं इससे प्रभावित क्यों होता हूँ? घृणा के कारण को जान लो तो उससे मुक्त हो सकते हो। क्रोध के कारण को जान लो, वासनाओं के कारण को जान लो, तो उनसे मुक्त हो सकते हो। मनोस्थिति के कारण को जानना मानसिक संयम का सबसे सरल उपाय है।

इन्द्रिय संयम– इन्द्रियाँ हमेशा भोग की कामना करती हैं। आँखें किसी मोहक वस्तु को देखती हैं और उसे चाहने लगती हैं। कान कुछ मधुर संगीत सुनते हैं और उसे चाहने लगते हैं। जिह्वा किसी प्रिय वस्तु का स्वाद लेना चाहती है, नाक किसी सुगन्ध का अनुभव प्राप्त करना चाहता है, त्वचा किसी सुखद स्पर्श की कामना रखती है। इस प्रकार से हर इन्द्रिय में एक कामना छिपी हुई है।

यह कामना इतनी प्रबल है कि आदमी उसके लिए अपनी आहुति देने को तैयार है। मधुमेह का रोगी जानता है कि मीठा नहीं खाना है, पर सोचता है कि इंसुलिन का इंजेक्शन तो ले लिया, अब चावल, आलू, मिठाई, सब कुछ खा सकता हूँ। मतलब अपनी वासना से वह अपने आपको मुक्त नहीं कर सकता है। यहाँ पर इन्द्रिय संयम कहाँ? अगर मालूम है कि हम बीमार हैं, तो परहेज करना चाहिए, सीधी-सी बात। लेकिन मजेदार बात तो यह कि इन्द्रियाँ मानती नहीं। लोग सोचते हैं एक मिठाई खा लेने में क्या आपत्ति है, इंसुलिन तो लिया ही है। यह बतलाता है कि मनुष्य में इन्द्रिय संयम कितना है।

किसी निषिद्ध चीज को करने की मन में एक विचित्र कामना उभरती है और तुम उस कामना को मन से निकाल नहीं पाते, क्योंकि तुम्हारे भीतर इन्द्रिय संयम का अभाव है। तुम्हारे अन्दर मानसिक दृढ़ता और संकल्प शक्ति है ही नहीं। इसलिए तुम्हारी इन्द्रियाँ तुम्हें मनचाही दिशा में खींच कर ले जाती हैं। अगर तुम्हारे पास संकल्प शक्ति और संयम होता तो तुम्हारे सामने मिठाइयों की बीस थालियाँ रख दी जाएँ, पर तुम एक भी मिठाई नहीं उठाओगे, क्योंकि तुम्हें मालूम है कि वह नुकसान करेगी।



इन्द्रियाँ अनेक चीजों की कामना करती हैं और तुम इन्द्रियों के अनुसार ही चलना पसन्द करते हो। लेकिन आध्यात्मिक विकास के लिए जरूरी है कि तुम अपनी विवेक-शक्ति और संकल्प-शक्ति के माध्यम से अपनी इन्द्रियों को नियंत्रित कर सको और उन्हें कह सको, 'अपने सुझावों के लिए धन्यवाद, लेकिन मेरा विचार कुछ और है।'

इन्द्रिय संयम, मानसिक संयम और वाणी संयम–एक प्रवृत्ति-मार्गी को अपने जीवन को सकारात्मक बनाने के लिए ये तीन आवश्यक होते हैं। इंद्रिय संयम में परहेज, मानसिक संयम में मन की परिस्थिति को देखते हुए उसका उपचार, और वाणी संयम में सत्यता और प्रियता का आगमन। यह है संयम जिसके बाद आती है अनुशासन की भूमिका।

अनुशासित जीवन

तुम्हारे दैनिक जीवन में व्यवस्था और अनुशासन होना चाहिए। अगर टेलीविज़न पर कोई बढ़िया फिल्म दिखलाई जा रही है तो तुम उसके लिए रात के एक बजे तक जगे रहोगे। अगर किसी के यहाँ पार्टी है तो रात भर वहीं मौज-मस्ती करते रहोगे। जहाँ तक खाने-पीने का सवाल है, तुम थोड़ी-थोड़ी देर में कुछ-न-कुछ चबाते रहते हो। इसलिए नहीं कि तुम भूखे

हो बल्कि इसलिए कि तुम्हारे पास खाने की चीजों की कमी नहीं। तुम्हारा फ्रिज ढेरों चीजों से भरा रहता है। आजकल लोग जीने के लिए नहीं खाते, खाने के लिए जीते हैं।

अनुशासन का तात्पर्य जीवन में एक प्रणाली, एक व्यवस्था के निर्माण से है। सोने, जागने, खाने, काम करने और आराम करने का एक निश्चित समय होना चाहिए। 'अनु' का मतलब होता है सूक्ष्म तत्त्व और शासन का मतलब होता है नियंत्रित करना। इस प्रकार अनुशासन का मतलब होता है अपनी सूक्ष्म अभिव्यक्ति पर शासन करना, उसका नियंत्रण करना। सूक्ष्म अभिव्यक्ति तनाव है, जिसपर मनुष्य का नियंत्रण नहीं होता। मन चंचल हुआ नहीं कि तनाव शुरू। जब इच्छा पूरी नहीं होती, भोजन या कपड़ा नहीं मिलता तो तनाव हो जाता है। जिसको सामान्य रूप से तनाव कहा जाता है, वह वास्तव में मन की सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। जब मन की इच्छा पूरी नहीं होती, जब इन्द्रियों की वासना पूरी नहीं होती, तब तनाव उत्पन्न होता है। एक बार तनाव उत्पन्न हो गया तो जीवन का सुख, चैन और शांति समाप्त।

अनुशासन का मतलब होता है मन की इन सूक्ष्म अवस्थाओं पर नियंत्रण ताकि तुम्हारे भीतर तनाव उत्पन्न न हो। संक्षेप में कहा जाए तो तनाव से मुक्ति ही योग है– *अथ योग: अनुशासनम्*। तनाव सूक्ष्म होता है। यह कोई जरूरी नहीं कि तनाव हमेशा चेतन ही हो। अचेतन और अर्धचेतन तनाव भी होता है। मन की ये सब सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ हमारे मन और बुद्धि को विकृत कर देती हैं, हमारे विवेक और शांति को खण्डित कर देती हैं। वही तनाव बाद में पूरे व्यक्तित्व को प्रभावित करके जीवन को चौपट कर देता है। इसलिए अनुशासन की आवश्यकता होती है, और अनुशासन को प्राप्त करने की विधि है योग।

अपने सूक्ष्म तनावों से मुक्त होकर हम अपने व्यक्तित्व और स्वभाव पर नियंत्रण और शासन कर सकते हैं, अपने जीवन के स्वामी बन सकते हैं– *तदा द्रष्टु: स्वरूपे अवस्थानम्*।

प्रवृत्ति-मार्ग में साधना का लक्ष्य एक ऐसी व्यवस्था, प्रणाली, अुनशासन और संयम को पाना है जो हमारे तामसिक और राजसिक गुणों को कम कर हमारे सात्त्विक पक्ष को विकसित करता है। सात्त्विकता के विकास के साथ हम आध्यात्मिक आयाम को जानने-समझने के लिए प्रेरित होते हैं और निवृत्ति-मार्ग की यात्रा प्रारम्भ करते हैं।

प्रवृत्ति का प्रबन्धन, निवृत्ति का अन्वेषण

25 जून, 2010

जीवन के दो मार्ग हैं–पहला है प्रवृत्ति-मार्ग और दूसरा निवृत्ति-मार्ग। प्रवृत्ति-मार्ग संसार की ओर यात्रा है, जबकि निवृत्ति-मार्ग परमात्मा की ओर यात्रा है। प्रवृत्ति-मार्ग में हम वृत्तियों के अधीन रहकर अपने जीवन के सभी कर्मों का निर्वाह करते हैं। लेकिन यह देखा गया है कि हर प्रवृत्ति-मार्गी के जीवन में संयम और अनुशासन का अभाव रहता है। प्रवृत्ति-मार्ग में जो भी होता है वह अपने मन की मर्जी मुताबिक होता है। अगर मन की मर्जी मुताबिक कुछ न हो तब फिर दु:ख, कष्ट और ग्लानि होती है।

चूँकि समाज के सौ प्रतिशत लोग प्रवृत्ति मार्गी होते हैं, हम लोगों को यह जानना है कि किस प्रकार प्रवृत्ति-मार्ग पर चलते हुए भी हम अपने जीवन में संयम और अनुशासन ला सकते हैं। प्रवृत्ति-मार्गियों के लिए, सांसारिक मनुष्यों के लिए संयम और अनुशासन प्राप्त करना जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि होती है। संयम के सिद्धान्त के अंतर्गत वाणी संयम, मन संयम और इन्द्रिय संयम आते हैं।

संयम का अभ्यास

वाणी में सत्यता और प्रियता–वाणी संयम के लिए सत्यता और प्रियता को आधार बनाया जाता है। जब तक वाणी में सत्यता और प्रियता है, तब तक वाणी में ऊर्जा होती है, वाणी शुद्ध होती है और वाणी स्वयं तथा दूसरों के उत्थान के लिए प्रयोग में लायी जाती है। वाणी में प्रयुक्त शब्द ऊर्जा के स्पंदन होते हैं। इन तरंगों का मस्तिष्क, मन और भावनाओं पर असर पड़ता



है। अगर कोई व्यक्ति तुम्हें अच्छा कहे तो तुम्हें पसंद आता है, सुख मिलता है। अगर वही व्यक्ति गाली दे दे तो तुम्हें पसंद नहीं आता। शब्दों के खेल से मनुष्य सुख या दुःख की अनुभूति प्राप्त करता है। शब्दों में शक्ति होती है। इस वाक्-शक्ति को सत्य और प्रिय वचनों द्वारा बढ़ाया जाता है। इसलिए वाणी संयम में सत्यता और प्रियता, ये दो आधार बनते हैं।

जीवन में असत्यता और अप्रियता तब आती है जब हम तामसिक और राजसिक वृत्तियों के चंगुल में फँस जाते हैं। प्रारम्भ में सत्यता और प्रियता लाना कठिन हो सकता है, लेकिन यही वे साधन हैं जो तुम्हारे शब्दों को सशक्त और प्रभावी बनाते हैं, तुम्हारी वाणी में संयम लाते हैं।

सत्त्व का अन्वेषण–मन हर व्यक्ति के लिए अनुभव का एक बहुत ही सूक्ष्म, व्यापक एवं विशाल क्षेत्र होता है। इस सूक्ष्म, व्यापक और विशाल क्षेत्र में चार प्रकार की मानसिक अवस्थाओं को हम देखते हैं। मन का पहला आयाम है सामर्थ्य और प्रतिभा का। ये सत्त्वगुण के परिचायक होते हैं। जो व्यक्ति जितना प्रतिभावान् एवं सामर्थ्यवान् होता है, वह अपने जीवन में उतना ही स्वतंत्र व्यवहार और विचार लेकर चलता है और उस स्वतंत्र विचार तथा व्यवहार में विवेक की झलक दिखलाई देती है। इसलिए प्रतिभा और

सामर्थ्य हमारे जीवन में सत्त्वगुण के परिचायक होते हैं और मन की इस प्रतिभावान् अवस्था को जानना मानसिक संयम के लिए पहला प्रयास है।

दैनिक जीवन में सत्त्व का अभ्युदय तब होता है जब तुम सकारात्मक गुणों और प्रतिभाओं से जुड़ते हो। योग में हमेशा कहा गया है कि नकारात्मक और प्रतिबन्धक चीजों के बारे में सोचने के बजाय सकारात्मक और सात्त्विक चीजों के साथ नाता जोड़ो। इससे तुम्हारी चेतना स्थूल से सूक्ष्म होती जाएगी। सामर्थ्यों और प्रतिभाओं का विकास वास्तव में सात्त्विक स्वभाव का विकास है।

तमस् की पहचान– दूसरी प्रकार की मानसिक अवस्था में मनुष्य अपनी कमजोरियों और सीमाओं का ज्ञाता होता है। कमजोरियों और सीमाओं का ज्ञान तमोगुण का ज्ञान है। व्यक्ति को जानना चाहिए कि मेरी कौन-कौन सी कमजोरियाँ और सीमाएँ हैं, जिनके कारण मैं अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता हूँ। सुख और शांति की कामना करता हूँ पर प्राप्त नहीं कर पाता हूँ। अच्छाई को जब मनुष्य प्राप्त नहीं कर पाता है तो उसका एक ही कारण होता है– तामसिकता की चपेट में वह अपने सामर्थ्य को भूल जाता है। कमजोरियाँ प्रबल हो जाती हैं और सामर्थ्य दुर्बल पड़ जाता है।

इसलिए कमजोरियों की पहचान जरूरी है। साथ ही सामर्थ्यों और प्रतिभाओं का पोषण भी जरूरी है। जहाँ एक ओर अपनी सीमाओं और कमजोरियों को पहचानना, अपने स्वभाव पर तमस् की पकड़ को समझने के लिए जरूरी है, वहीं सकारात्मक गुणों का विकास वह साधना है जिसका हमें अपने जीवन में निरंतर अभ्यास करना है।

रजस् की प्रबलता को जानना– मानसिक संयम के लिए तीसरा प्रयास अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और वासनाओं को जानना है, क्योंकि इनका जन्म रजोगुण से होता है। रजोगुण ही मन में अनेक कामनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को जन्म देता है और समय-समय पर हर व्यक्ति को इन महत्त्वाकांक्षाओं का भी अवलोकन करना चाहिए कि इनमें क्या प्राप्य है और क्या अप्राप्य। इसका ज्ञान होना जरूरी है क्योंकि बहुत बार अप्राप्य महत्त्वाकांक्षाओं को ही हम अपने जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं और इसीलिए कभी भी हम अपनी यात्रा को पूर्ण नहीं कर पाते हैं। लेकिन अगर प्राप्य महत्त्वाकांक्षाओं को लेकर चलें तो निश्चित रूप से जो चाहते हैं उसको प्राप्त करते हुए आगे बढ़ सकते हैं।

मन की चौथी स्थिति, जिसमें तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं, आवश्यकताओं और जरूरतों की है। हर व्यक्ति की आवश्यकता सीमित है– रोटी, कपड़ा और मकान। जब व्यक्ति रोटी, कपड़ा और मकान के लिए विवेक-बुद्धि से प्रयास करता है, उस समय सभी गुण साम्यावस्था में रहते हैं।

मानसिक संयम के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपनी प्रतिभा, अपनी सीमा, अपनी महत्त्वाकांक्षा और अपनी आवश्यकता, इन चारों को भली-भाँति समझ लें और इनको समझ लेने के बाद फिर जो अपनाने योग्य है उसे हम अपनाएँ और जो अनावश्यक है उसे हम छोड़ दें। अपनाना और छोड़ना, ये दो क्रियाएँ होती हैं मन को संयमित करने के लिए। जो अपनाने योग्य है, जिससे मनुष्य का उत्थान होता है, उसे अपनाना है और जो बुराई है, जो खराबी है, उसे छोड़ देना है। इतना भर करने से मन और विचारों में संयम की प्राप्ति होती है।

लेकिन इस प्रक्रिया को करने के लिए ध्यान की अवस्था में प्रवेश करना होगा। और यह जो ध्यान है वह कोई प्रत्याहार या धारणा की विधि नहीं जैसे योग में सामान्यतया सिखायी जाती है। यह ध्यान आत्म-निरीक्षण, आत्म-परीक्षण और आत्म-अन्वेषण की प्रक्रिया है, अपने आप को जानने का तरीका है, अपने आप को समझने की विधि है। ध्यान की अवस्था में मन के इन चार व्यवहारों को जानना मानसिक संयम का आधार बनता है।

प्रतिपक्ष-भावना–तीसरे प्रकार का संयम है इन्द्रिय संयम। हमारी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ हमेशा सुख और तृप्ति की खोज करती हैं। आँखों को वह देखना पसंद है जिसमें उनको सुख मिलता है, कानों को वह सुनना पसंद है जिसमें उनको सुख मिलता है, जीभ को वह स्वाद पसंद है जिसमें उसको सुख मिलता है। इस प्रकार से इन्द्रियों का काम हमेशा सुख की खोज रहता है। ये इन्द्रियाँ ही मनुष्य के चित्त को भ्रमित करती हैं। जब कोई इन्द्रिय किसी विषय-वस्तु से जुड़ती है, तब उस वस्तु की कामना उत्पन्न होती है और उससे मन की शांति समाप्त हो जाती है।

इन्द्रिय निग्रह के लिए एक विपरीत विचार को अपने मन में लाना आवश्यक हो जाता है, जिसे योग की भाषा में प्रतिपक्ष-भावना कहते हैं। मुझे अमुक चीज देखने में सुख मिलता है, मन में यह पहला विचार आता है। प्रतिपक्ष-भावना को जब हम लाते हैं तब अपने आप से कहते हैं कि दूसरी चीज को भी देखने में सुख मिलता है, केवल इसमें नहीं। मुझे इस

भोजन में स्वाद मिलता है, मैं इसकी कामना करता हूँ। प्रतिपक्ष-भावना से दूसरा विचार आता है कि मुझे दूसरे आहार में भी स्वाद मिलता है। विपरीत विचारों को लाकर हम इन्द्रियों को संभालने में सक्षम हो जाते हैं और इस प्रकार जीवन में संयम आता है।

व्यक्तिगत अनुशासन

संयम का सहायक होता है अनुशासन। अनुशासन का भी हमारे जीवन में अभाव है और अनुशासन के अभाव में जिंदगी केवल मन-मर्जी की ही रहती है। जो इच्छा हो सो करो, जिसकी इच्छा न हो मत करो–यह मन-मर्जी बतलाती है कि जीवन में अनुशासन का अभाव है, क्योंकि अनुशासन का मतलब होता है जीवन में ऐसी व्यवस्था लाना जिसके द्वारा हमारा शरीर, मन, बुद्धि, भावना और ऊर्जायें स्वस्थ रहें। विशेषकर सोने और खाने-पीने में निश्चित व्यवस्था होनी चाहिए। अगर तुम इन दोनों को व्यवस्थित कर सकते हो तो जीवन के सभी असंतुलन समाप्त हो जाएँगे। तुम कब सोते हो, कब जागते हो, क्या खाते हो, कब खाते हो–इसके लिए समय और नियम निश्चित कर लो। साथ ही शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य में वृद्धि करने वाले योगाभ्यासों को जोड़ने से तुम्हारा जीवन निश्चित रूप से अनुशासित होगा।

अनुशासन के लिए मनीषियों ने जिस पद्धति का आविष्कार किया वह पद्धति है योग। योग के द्वारा शरीर के विकारों को दूर कर शरीर में स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। मन के तनावों को दूर कर मन में शांति की प्राप्ति होती है, भावनाओं की उत्तेजना को शांत कर उनको निर्मल बनाया जाता है, प्राणों की चंचलता को शांत कर प्राणों को एक बिन्दु पर केंद्रित किया जाता है और इस प्रकार जब हमारे शरीर, मन, भावना, प्राण, आदि सब एक विधि के द्वारा नियंत्रित होते हैं तो उनके विकार और रोग अपने आप दूर होते हैं और मनुष्य उत्तम स्वास्थ्य को प्राप्त करता है।



तीन मंत्रों का जप–अगर व्यक्ति जीवन में कुछ अनुशासन प्राप्त करना चाहता है तो उसे एक विधि का अनुसरण करना चाहिए। पहली बात, सबेरे उठने पर चुप-चाप पाँच मिनट के लिए आँखों को बंद करके बैठ जाओ। महामृत्युंजय मंत्र, गायत्री मंत्र और दुर्गा जी के बत्तीस नाम–इन तीन मंत्रों का जप प्रात:काल उठते ही बासी मुँह हर व्यक्ति को करना चाहिए। सामान्य मान्यता तो यह है कि आराधना करने से पहले नहा लेना चाहिए या कम-से-कम हाथ-मुँह धो लेना चाहिए, और उसके बाद आराधना में संलग्न होना चाहिए। लेकिन यह आवश्यक नहीं। अगर हम आराधना अपने नित्यकर्मों से निवृत्त होकर करते हैं, तो मन उस समय बहिर्मुखी हो जाता है।

मन में संकल्प शक्ति को बढ़ाने के लिए, मन की सृजनात्मक क्षमता की वृद्धि के लिए जरूरी है कि मंत्र का पाठ उस समय हो जब मन अर्द्धचेतन अवस्था में रहता है, पूर्ण चेतन नहीं हुआ रहता। अर्द्धचेतन स्थिति कब आती है? जैसे ही नींद खुलती है तब। मनुष्य का अर्द्धचेतन मन बहुत ही शक्तिशाली तत्त्व है क्योंकि संकल्प-शक्ति का विकास मन के इसी आयाम में होता है। इस अर्द्धचेतन अवस्था में मन न सोया है न जगा है, और इस समय जो भी चिंतन या विचार आपके भीतर प्रवेश करेगा वह एक संकल्प का रूप लेगा और आपके जीवन में परिवर्तन अवश्य लाएगा।

इसीलिए सुझाव दिया जाता है कि जैसे ही नींद से जागते हो, बिस्तर से अपने पैरों को नीचे करने के पहले ही पाँच मिनट के लिए आँखों को बंद करके शांति से बैठ जाओ और अपने लिए स्वास्थ्य का संकल्प लेकर ग्यारह बार महामृत्युंजय मंत्र का जप करो। ग्यारह बार करने में दो-तीन मिनट का समय लगता है। उसके बाद अपने जीवन में प्रतिभा और विवेक का संकल्प लेकर ग्यारह बार गायत्री मंत्र का जप करो। दो-तीन मिनट समय लगता है। और उसके बाद अपने आप को जीवन की दुर्दशा और दुर्गति से मुक्त रखने के लिए, सुख, शांति और समृद्धि के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए, दुर्गा जी के बत्तीस नामों का तीन बार पाठ करना चाहिए। उसमें भी तीन-चार मिनट का ही समय लगता है। तो सात से दस मिनट के बीच तुम अपने अर्द्धचेतन मन को ऐसा संकल्प देते हो जो तुम्हारी जाग्रत अवस्था में भी और निद्रा की स्थिति में भी मन की दृढ़ता और ऊर्जा को बढ़ाता है।

अपने जीवन और मन में एक सकारात्मक चिंतन को लाने के लिए यह आवश्यक है। नहीं तो होता क्या है कि उठते ही सबसे पहले हाथ जाता है

अखबार की ओर या टेलिविजन ऑन करने की ओर ताकि हम समाचार देखें। जो समाचार हम प्रात:काल देखते या पढ़ते हैं वह हमारे इस अर्द्धचेतन मन को प्रभावित करता है और फिर मन में दिनभर चंचलता का वास होने लगता है, नकारात्मक विचारों का आना आरम्भ हो जाता है। दिन में एक समय तो ऐसा होना चाहिए जब मनुष्य अपनी प्रतिभा से सम्बन्ध जोड़े और वह सम्भव हो पाता है प्रात:काल इन तीन मंत्रों के पाठ के दौरान। सकारात्मक एवं सात्त्विक चिंतन को लाने के लिए, अपने मन में संकल्प शक्ति को बढ़ाने के लिए मंत्रों का यह अनुशासन आवश्यक है। सबेरे तुम अपने भीतर जिस सकारात्मक चेतना को जगाओगे, वह तुम्हारे दिनभर के क्रियाकलापों को निर्देशित करती रहेगी और तुम्हारे मन को निराशा, चिन्ता या विषाद के अन्धकार में गिरने से बचाएगी। इसलिए व्यक्तिगत अनुशासन के क्रम में पहला अभ्यास मंत्रों का है, जिसके द्वारा हम दिनभर मानसिक सकारात्मकता, संतुलन और सामंजस्य बनाये रख सकते हैं।

आसन-प्राणायाम–उसके पश्चात् शारीरिक स्वास्थ्य आसन और प्राणायाम के द्वारा प्राप्त किया जाता है। और आसन भी गिने-चुने होने चाहिए, तीन या चार या पाँच, इससे ज्यादा नहीं। हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि आसन चौरासी हजार हैं। इन चौरासी हजार आसनों में चौरासी मुख्य हैं और इन चौरासी में पाँच प्रमुख हैं। ये पाँच अभ्यास हर व्यक्ति के लिए अनिवार्य हैं क्योंकि इनसे रोगी का रोग भी दूर होता है और स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य में वृद्धि भी होती है। रोग-निवारण और स्वास्थ्य-वृद्धि–दोनों काम सम्भव हो जाते हैं। शरीर के अनुशासन के लिए, प्राणों के प्रवाह को सुचारू रूप से चलाने के लिए जो पाँच मुख्य आसन हैं, वे हैं–ताड़ासन, तिर्यक् ताड़ासन, कटि चक्रासन, सूर्य नमस्कार और सर्वांगासन। इन पाँच आसनों के अतिरिक्त और कुछ करने की आवश्यकता नहीं। अगर इतना कर लोगे तो शरीर में ऊर्जा के प्रवाह में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचेगी। शरीर में लचीलापन रहेगा, स्फूर्ति रहेगी। शरीर ऊर्जायुक्त और कान्तियुक्त रहेगा।

पाँच आसनों के बाद दो प्राणायाम। पहला प्राणायाम है नाडीशोधन प्राणायाम, जिससे हम स्नायुओं एवं मस्तिष्क के तनावों को दूर कर सकते हैं और मस्तिष्क के केन्द्रों में प्राणों का पुनर्संचार कर सकते हैं। दूसरा है भ्रामरी प्राणायाम। ये दो प्राणायाम मस्तिष्क की चंचलता और उत्तेजना को

शांत करने में सक्षम हैं। नाडीशोधन प्राणायाम से मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्ध समस्वरित होते हैं, और भ्रामरी प्राणायाम अंत:स्रावी ग्रंथियों की कार्यप्रणाली को नियंत्रित करता है। जब ग्रंथियाँ सही ढंग से कार्य करती हैं, मस्तिष्क ऑक्सीजन और प्राणशक्ति से आपूरित रहता है और उसके दोनों गोलार्द्ध सुचारु रूप से कार्य करते हैं, तब मन और मस्तिष्क की कार्यक्षमता कई गुना बढ़ जाती है। इस प्रकार पाँच आसन एवं दो प्राणायाम शारीरिक अनुशासन के लिए और तीन मंत्र मानसिक अनुशासन के लिए अनिवार्य हैं।

योगनिद्रा– तत्पश्चात् दिन में जब भी थकान का अनुभव हो, माँसपेशियाँ, मस्तिष्क और मन थके हों, तब उस थकान को दूर करने के लिए एक लघु योगनिद्रा का अभ्यास किया जा सकता है। जब थकान दूर होती है तब शरीर में पुन: प्राणों का संचार होता है, शरीर ऊर्जायुक्त होता है।

शयन से पूर्व ध्यान– रात के समय अपने आपको तनावों से मुक्त करने के लिए ध्यान आवश्यक है। अगर तुम सोने से पहले अपने आपको तनावमुक्त कर सकते हो तो कालान्तर में तुम्हारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व रूपांतरित हो जाएगा, क्योंकि जीवन में सबसे बड़ी समस्या तनाव की है।

प्रत्येक व्यक्ति तनाव से पीड़ित है लेकिन उससे निपटने में सक्षम नहीं है। तनाव इकट्ठा होता जाता है और तुम उसे निकाल नहीं पाते। इसके लिए सोने से पहले ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। इससे तुम्हारा मन शांत और तनावरहित बनेगा, वह तीव्र वृत्तियों से परेशान नहीं होगा। तनाव के समय ही मन वृत्तियों के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। जब तुम पूरी तरह तनाव-रहित होते हो, तब मन दो कदम पीछे हटकर वृत्तियों और इन्द्रिय-विषयों को निष्पक्ष रूप से देख सकता है। इसलिए रात्रि में सोने के पूर्व ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। आधा या एक घण्टा नहीं, पाँच मिनट पर्याप्त हैं। सबसे पहले अपने आपको संसार से अलग कर लो। 'मैं संसार के प्रभावों से मुक्त हूँ'– इस प्रकार का विचार लाकर चिंतन करो कि 'मैं मन नहीं हूँ, न मन से जुड़ा हुआ सुख-दु:ख का अनुभव हूँ; मैं शरीर नहीं हूँ, न शरीर से जुड़ा हुआ सुख-दु:ख का अनुभव हूँ; मैं चैतन्य आत्मा हूँ।' और चैतन्य आत्मा का विचार लाकर पाँच मिनट ध्यान करो। चाहे वह मंत्र का जप हो या ध्यान का कोई अन्य अभ्यास। और उसके बाद सो जाओ। मंत्र, आसन-प्राणायाम, योगनिद्रा और ध्यान– यह है यौगिक अनुशासन। अगला अनुशासन लाना है आहार में।

आहार में अनुशासन—यह निश्चित कर लो कि मैं इतने बजे अपना भोजन करूँगा, इसके आगे-पीछे कुछ नहीं। यह जो आदत हम लोगों को लग गई है कि जब चाहो कुछ-न-कुछ मुँह में डालते रहो, इससे अपने आपको मुक्त करने का प्रयास करो, क्योंकि यह शरीर के लिए हानिकारक है। हम लोगों के पाचन तंत्र में भोजन पचाने के रसायन हमेशा एक निश्चित मात्रा में निकलते हैं। चाहे तुम एक मुठ्ठी चिवड़ा खाओ या भरपेट भोजन करो, उस अन्न को पचाने के लिए पेट में जो रसायन निकलते हैं, वे यह नहीं देखते कि अभी कम भोजन किया है, इसलिए हम कम मात्रा में निकलें या अधिक भोजन किया है, तो ज्यादा मात्रा में निकलें। उनके स्राव की मात्रा एक-सी रहती है।

अगर तुम दस बार खाते हो, चाहे वह मूँगफली का दाना ही क्यों न हो, उतनी ही बार वे रसायन पेट में निकलते हैं। जब पेट में इन रसायनों की मात्रा बहुत हो जाती है, तब फिर उस समय हम पित्त का शिकार होते हैं, क्योंकि रसायनों की गुणवत्ता पित्त की है। अगर हम दिन में नियम से भोजन करें, चाहे चार बार या तीन बार या दो बार या एक ही बार, तो हर बार, उसी समय, निश्चित मात्रा में वे रसायन हमारे पेट में जाकर अन्न को पचायेंगे और अपने आप साफ हो जाएँगे। आज विज्ञान भी कहता है कि आदमी अपने जीवन में जिन रोगों का सामना करता है, उसका मुख्य कारण है पेट। पेट के कारण बहुत रोग उत्पन्न होते हैं और आदमी बेकाम हो जाता है।

आयुर्वेद में कहा गया है कि शरीर में तीन प्रकार के दोष होते हैं—वायु, कफ और पित्त। जब ये तीन दोष प्रबल हो जाते हैं तब आदमी रोगी होता है। हम लोग यह जो बार-बार भोजन करते हैं या कुछ-न-कुछ अपने मुँह में डालते रहते हैं, उससे पित्त की शिकायत बढ़ती है। टायलेट के फ्लश को तुम दिन में तीन-चार बार ही खींचोगे तो लम्बे समय तक काम करेगा। लेकिन अगर उसी फ्लश को तुम प्रतिदिन चालीस बार खींचोगे तो कुछ ही सप्ताह में वह बेकाम हो जाएगा। उसी प्रकार पेट में बार-बार कुछ डालते रहने से वह भी बेकाम हो जाता है। इसलिए, आयुर्वेद और योग में कहा गया है कि आहार-संयम मनुष्य के स्वास्थ्य को कायम रखने के लिए आवश्यक है। भोजन के लिए समय निश्चित कर लो। यह कोई जरूरी नहीं कि दिन में दो बार ही खाना है, लेकिन भोजन का समय निश्चित रहे।

उत्तम तो यही होगा कि दिन में तीन बार ही खाओ—सवेरे, दोपहर और शाम। इससे ज्यादा शरीर को आवश्यकता भी नहीं। हाँ, लोभ और लालच

के लिए कोई सीमा नहीं। लेकिन जहाँ तक शरीर की बात है, उसे तीन बार से अधिक आहार की आवश्यकता नहीं। मैं तो केवल संकेत दे रहा हूँ, प्रयास तुम्हें करना है। घर में जाकर जितना कर सकते हो, करो। फायदा तुम्हें ही होगा।

निद्रा में नियमितता–अनुशासन में तीसरी चीज़ है निद्रा। सोने का समय भी निश्चित और सवेरे उठने का समय भी निश्चित। हाँ, कुछ दिन अपवाद हो सकते हैं। बाह्य व्यस्तता या अन्य परिस्थितियों के कारण हो सकता है कि इस क्रम में कुछ दिन विघ्न हो। उसको दोष नहीं, अपवाद मानो। लेकिन जहाँ तक सम्भव हो सके, सोने और उठने का समय निश्चित कर लो। बहुत ज्यादा सोना और बहुत कम सोना, दोनों तुम्हारे मन-मस्तिष्क के लिए ठीक नहीं। सोने और जागने में नियमितता लाने से तुम्हारे मन-मस्तिष्क चुस्त-दुरुस्त रहेंगे।

योगाभ्यास, आहार-अनुशासन और निद्रा-अनुशासन–इन तीनों को अगर हम अपनी जीवनशैली में अपना लें तो हमारा जीवन अनुशासित हो जाएगा। संयम तथा अनुशासन, दोनों मिलकर साधना बनते हैं। केवल अनुशासन को साधना नहीं कहते, और न केवल संयम को। दोनों के मेल को ही साधना कहते हैं। और यह तरीका है प्रवृत्ति-मार्गियों के लिए ताकि वे अपने जीवन में थोड़ी व्यवस्था, थोड़ा अनुशासन ला सकें, एक स्वस्थ एवं शांत जीवन व्यतीत कर सकें, और उसके साथ ही साथ, अपनी क्षमताओं और प्रतिभाओं का उपयोग अपने तथा दूसरों के हित में करते रहें।

निवृत्ति मार्ग

अब रही बात निवृत्ति-मार्ग की। पहले समझा जाए कि निवृत्ति-मार्ग कहते किसको हैं? निवृत्ति का मतलब वृत्ति से विमुख होना। जो वृत्ति हमें संसार से जोड़ती है, संसार में संलग्न करती है, उस वृत्ति से अपने आप को अलग करना। एक बार उस वृत्ति से हम अलग हो जाते हैं तो निवृत्ति होती है।

योग शास्त्रों में कहा गया है कि मनुष्य कभी वृत्तियों से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता। जो नकारात्मक वृत्तियाँ हैं, उन्हें हमें सकारात्मक बनाना है। इस क्रम में जिस उच्च, सकारात्मक वृत्ति को हम प्राप्त करते हैं, उसे योग की भाषा में ब्राह्मी-वृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति-मार्गी में भौतिक वृत्ति होती है, लेकिन निवृत्ति-मार्गी के लिए ब्राह्मी-वृत्ति को प्राप्त करना लक्ष्य होता है।

प्रश्न उठता है कि ब्राह्मी-वृत्ति का अर्थ क्या है? ब्रह्म शब्द परमात्मा का द्योतक है। परमात्मा अलिंगी है, उसका अपना कोई लिंग नहीं होता। और

ब्रह्म शब्द भी अलिंगी शब्द है। वह *'बृंह्'* धातु से बना शब्द है, जिसका मतलब होता है निरंतर विकासशील होना। तो ब्रह्म का मतलब हुआ वह उच्च अवस्था जिसका निरंतर विकास होता रहता है। यह चेतना की एक ऐसी स्थिति को दर्शाता है जो भौतिक बंधनों से पूर्ण-रूपेण मुक्त है। उस पर भौतिकता की छाप बिल्कुल नहीं है।

ब्राह्मी-वृत्ति में जो मुक्ति दिखाई देती है, वह बाह्य नहीं, आंतरिक है। व्यक्ति चाहे भौतिक वृत्ति को अपनाकर संसार में रहे या ब्राह्मी-वृत्ति को, उसे अपने शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धि का ही उपयोग करना है। यंत्र एक ही है जिसका उपयोग एक भोगी भी करता है और एक योगी भी। अंतर दिखलाई देता है दोनों की मानसिकता में। भोगी की मानसिकता संसार में लिप्त रहकर सांसारिक सुखों की कामना करते रहने की है, जबकि योगी की मानसिकता सांसारिक सुखों की बजाय आत्म-सुख की खोज करने की है। प्रवृत्ति-मार्ग में हम अपने आप को एक-दूसरे से जोड़ते जाते हैं, क्योंकि इसी में हमें अपनी प्रतिष्ठा, नाम, पद, यश, कीर्ति, आदि का बोध होता है, जबकि निवृत्ति-मार्ग में हम संसार के बंधनों से अपने आप को धीरे-धीरे मुक्त करते जाते हैं। संसार में ही रहते हैं, किंतु स्वतंत्र रहते हैं। हमारे मनीषियों ने इस सम्बन्ध में एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है। वे कहते हैं कि जैसे कमल के पत्ते और फूल जल में उत्पन्न होते हैं और जल में ही उनकी वृद्धि होती है, पर जल के स्पर्श से वे मुक्त रहते हैं, वैसे ही मनुष्य का जीवन भी होना चाहिए। यह मनुष्य के लिए निवृत्ति-मार्ग में आगे बढ़ने का संकेत है, जिसके लिए उसे तीन गुणों का उपार्जन करना होगा।

निवृत्ति के तीन आधार

निवृत्ति-मार्ग के तीन आधार त्याग, समर्पण और विश्वास हैं। जिस प्रकार संयम और अनुशासन प्रवृत्ति-मार्गी के लिए आवश्यक हैं, उसी प्रकार निवृत्ति-मार्गी के लिए त्याग, समर्पण और विश्वास–ये तीन चीजें आवश्यक हैं।

निवृत्ति-मार्ग प्रवृत्ति-मार्ग के ठीक विपरीत है। कल्पना करो कि उत्तर से दक्षिण की ओर एक सड़क है। जब तुम उस सड़क पर उत्तर दिशा की ओर चलते हो, तब तुम्हारी पीठ दक्षिण की ओर होती है। तुम दक्षिण की ओर नहीं देख सकते, तुम्हें सिर्फ उत्तर दिशा की चीजें दिखायी देंगी। अगर तुम दक्षिण की ओर जाना चाहते हो तो तुम्हें पलटना होगा। प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग में भी यही बात लागू होती है। वे एक-दूसरे के ठीक उल्टे हैं।



प्रवृत्ति-मार्ग में तुम संसाराभिमुख हो, जबकि निवृत्ति-मार्ग में तुमने संसार की ओर पीठ कर ली है। प्रवृत्ति-मार्ग में तुम ईश्वर से मुँह मोड़ लेते हो जबकि निवृत्ति-मार्ग में तुम दुनिया से मुँह मोड़कर ईश्वराभिमुख होते हो। लोग आध्यात्मिक यात्रा की कठिनाई का अक्सर अंदाज नहीं लगा पाते। संसार से मुँह मोड़ने के लिए सभी सांसारिक चीजों से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद होना चाहिए, जो अधिकांश लोग नहीं कर पाते। मैंने ऐसे अनेक लोगों को देखा है जो पलटने की बजाय पीछे की ओर चलने लगते हैं और कहते हैं, 'मैं निवृत्ति-मार्गी बन रहा हूँ और संसार से धीरे-धीरे दूर होते जा रहा हूँ।' आध्यात्मिक जीवन में 'धीरे-धीरे दूर होना' कोई मायने नहीं रखता। यहाँ तो 'हाँ' या 'ना' वाला हिसाब चलता है। बीच वाला हिसाब नहीं। या तो प्रचण्ड प्रकाश है या फिर घुप अँधेरा।

जब भगवान बुद्ध से किसी ने पूछा, 'यह कैसे जान सकते हैं कि हम आध्यात्मिक जीवन में प्रगति कर रहे हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'आध्यात्मिक जीवन में प्रगति का एकमात्र संकेत यही है कि तुम्हारी इच्छाएँ, कामनाएँ और वासनाएँ कम हो रही हैं या नहीं।' जब तुम आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ते हो तो वे धीरे-धीरे घटती जाती हैं। उनकी तुम पर पकड़ कम होती जाती है। जब ऐसा होने लगे तो समझ लो कि तुम उन स्थूल वृत्तियों से मुक्त हो रहे हो जो तुम्हारे मन को इन्द्रिय-विषयों से बाँध कर रखती हैं। ऐसे समय ब्राह्मी वृत्ति जागृत करो। इसलिए यह आवश्यक है कि निवृत्ति-मार्ग के तीन चरणों–त्याग, समर्पण और विश्वास को हम सही परिप्रेक्ष्य में समझें।

त्याग की सीढ़ी

निवृत्ति का पहला आधार है त्याग, जो वास्तव में बहुत ही सहज प्रक्रिया है। यह कोई वैचारिक विधि या चिंतन नहीं कि मुझे अमुक चीज को छोड़ना है। जब तुम सीढ़ी चढ़ते हो तो तुम्हारा पैर पहले ऊपर के पाये को प्राप्त करता है,

तब जाकर नीचे वाला पैर निचले पाये को छोड़ता है। इस प्रकार का छोड़ना ही त्याग है। त्याग तभी सम्भव हो पाएगा जब तुम्हें कुछ और मिलेगा जिसे तुम पकड़कर रहोगे। अगर बुराई का त्याग करना है तो पहले किसी अच्छाई को पकड़ो। अच्छाई में अपने आपको स्थिर करो, तब बुराई अपने आप छूट जाएगी। त्याग यह चिंतन नहीं कि 'मैं आज से सब कुछ छोड़ रहा हूँ।' और वह सम्भव भी नहीं। बहुतों ने ऐसा सोचा, बहुतों ने ऐसा प्रयास भी किया कि मैं सब चीजों का त्याग करता हूँ, किंतु सफल नहीं हुए।

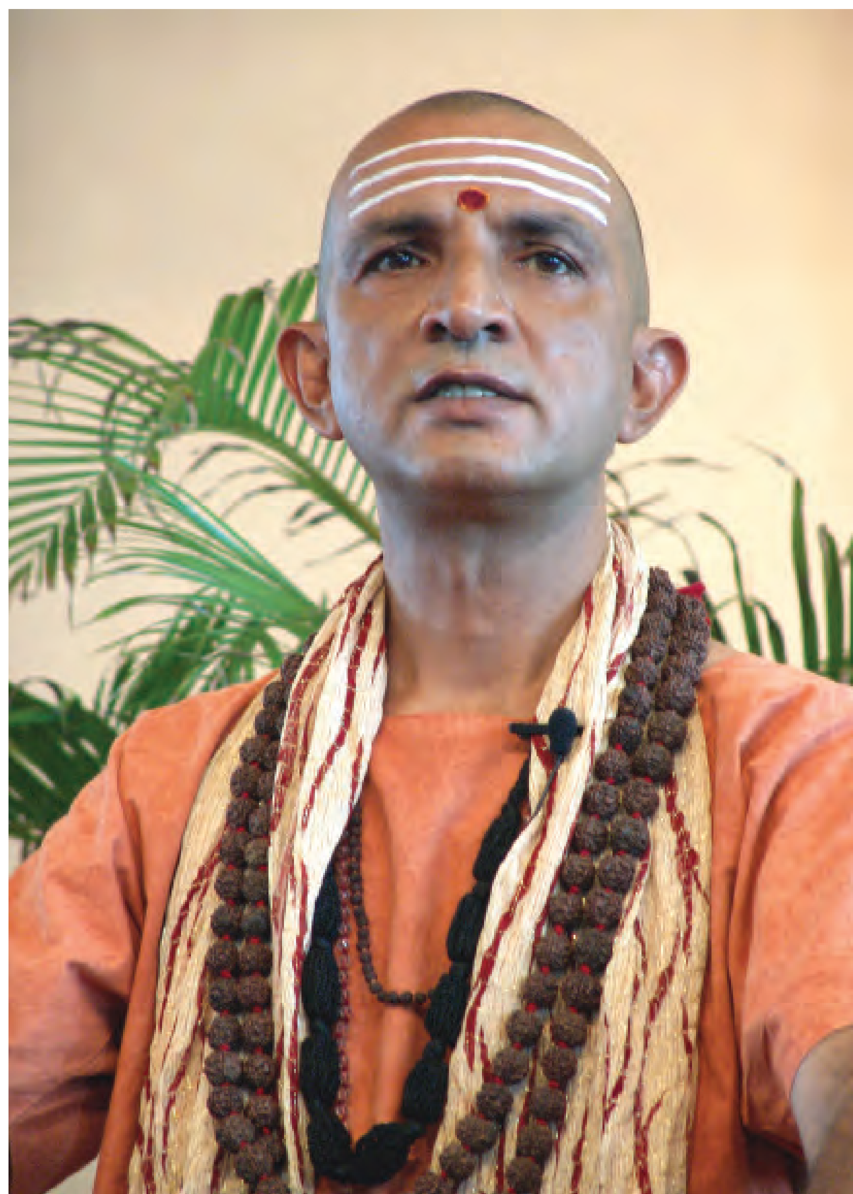
जो बाह्य है, भौतिक है, उसे तो छोड़ना सरल है। घर, परिवार, मित्रदल और समाज को छोड़ना सरल है, लेकिन अपनी वासनाओं, विचारों और तामसिकता को हम कैसे छोड़ें? इसीलिए त्याग को दूसरे दृष्टिकोण से देखना होगा। छोड़ने के रूप में नहीं, बल्कि पहले प्राप्ति के रूप में। प्राप्ति के बाद जो छूटना है, वह तो छूटेगा ही। इसलिए निवृत्ति-मार्ग में कहा जाता है कि पहले तुम अपने आप को जान लो, समझ लो। अपने भीतर जो संस्कार और कर्म हैं, उन्हें देखने का प्रयास करो। और यह भी सत्य है कि जो निवृत्ति-मार्ग पर चलता है वह किसी का साथी नहीं होता।

पहले दिन हमने आत्माराम की कहानी सुनायी थी। वह होटल संसार पहुँचकर वहाँ रहने लगा था। होटल का मैनेजर था मनीराम, जिसके वासना कुमारी, तृष्णा कुमारी और अहंकार कुमार जैसे बहुत-से सहयोगी थे। आत्माराम उसी होटल में सभी के साथ रहता था। लेकिन जब मार्गदर्शक उस होटल में आता है, सभी देखते हैं कि यह तो किसी से मिलता नहीं, किसी से बात तक करता नहीं। अकेले रहता है, मस्त रहता है। और उस होटल के कर्मचारी– अहंकार कुमार या तृष्णा कुमारी या वासना कुमारी, वे मार्गदर्शक से मिल भी नहीं पाते, क्योंकि वह हमेशा अपने आप को कमरे में बंद रखता था।

अब खुद सोच लो। अगर व्यक्ति अपने आप को ईर्ष्या, घृणा, राग, द्वेष, आसक्ति, वासना एवं कामना से मुक्त रखना चाहे, और अपने भीतर स्थिरता, सुख एवं शांति का अनुभव करना चाहे, तो क्या करना होगा? अपने आप को इन सब चीजों से अलग करना होगा। अगर तुम वासना कुमारी के साथ रहते हो तो रोज़ तुम्हें वासना ही दिखलाई देगी। अगर तुम्हारा मित्र अहंकार कुमार है तो रोज अहंकार ही तुम्हारे सामने रहेगा। अगर तुम्हारी सखी तृष्णा कुमारी है तो तृष्णा तुममें रहेगी। कहने का मतलब यह कि हम संसार से जितने लिप्त रहेंगे, संसार के ये अलग-अलग रूप हम पर उतने ही हावी होते जाएँगे।

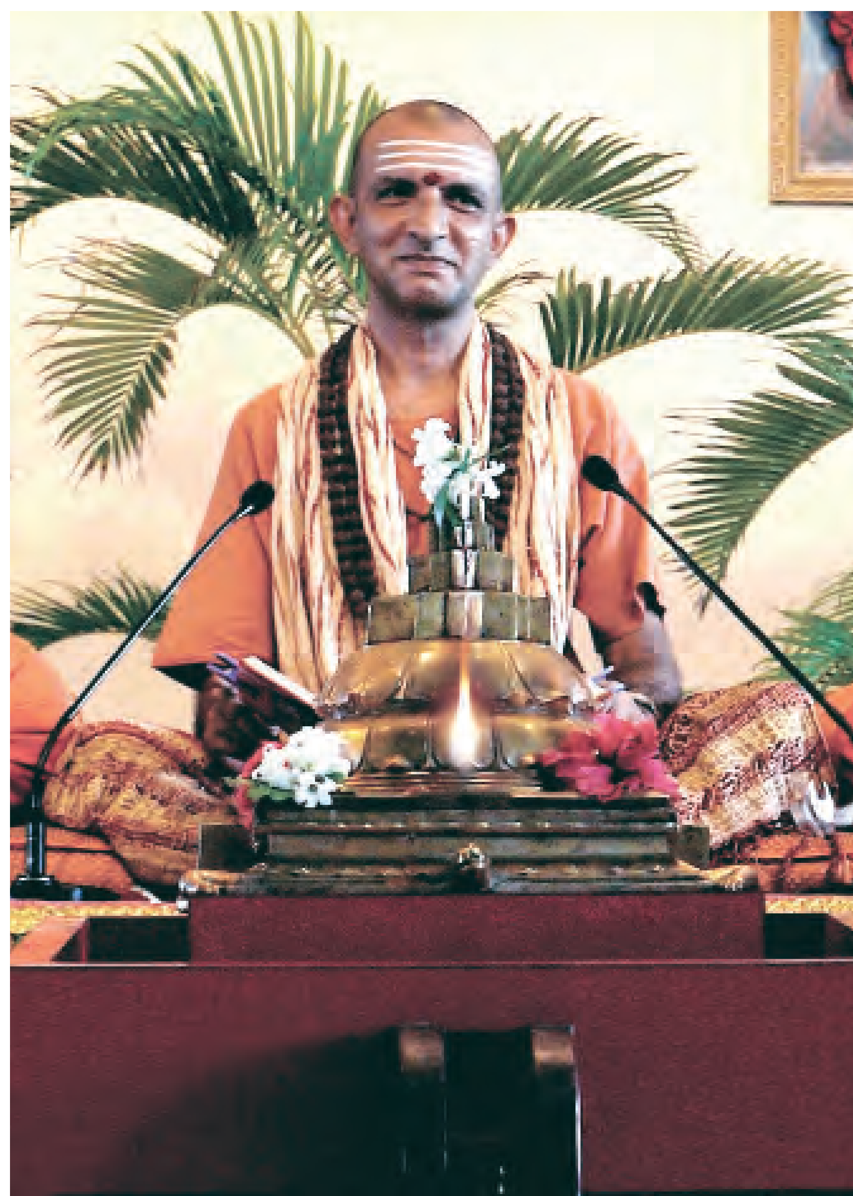
















इसलिए अपने आप को सांसारिक वृत्ति से अलग करने का प्रयास करना है। सांसारिक वृत्ति से मुक्त होने का हमें एक ही तरीका आता है। इतिहास में, कहानियों में हमने बहुत पढ़ा कि अनेक लोग सब-कुछ छोड़ कर एकांतवास, जप, साधना और अनुष्ठान के लिए जंगलों, पर्वतों और गुफाओं में चले जाते थे, लेकिन क्या ऐसा करने से वे लोग, जो पहले प्रवृत्ति-मार्गी थे, निवृत्ति-मार्गी हो सके? चिंतन और विचार कहता है कि नहीं। और अनुभव भी कहता है कि नहीं, यह सम्भव नहीं। बाह्य चीजों को छोड़ना सरल है, लेकिन अंदर के जो धागे हैं, बन्धन हैं, उन्हें काटना बहुत कठिन होता है। आखिर वे कटेंगे तो कैसे?

गुरु– दिल और दिमाग का शल्य-चिकित्सक

वे बन्धन कटते हैं गुरु के सान्निध्य में। वही एक व्यक्ति है जो हमारे जीवन में शल्यक्रिया कर सकता है। गुरु ही दिमाग की शल्यक्रिया करता है, गुरु ही दिल की 'सर्जरी' करता है। गुरु के यही दो मुख्य काम होते हैं। गुरु ज्ञानी नहीं होता। बहुत-से लोग कहते हैं कि हमें ऐसा गुरु चाहिए जो ज्ञानी हो, जिसका शरीर हट्टा-कट्टा हो, जिसके बाल और दाढ़ी सफेद हों, जिसके चेले बड़े-बड़े लोग हों। नहीं, वैसा गुरु तो तुम्हारे अहंकार की पुष्टि के लिए है। जिस गुरु का चेला टाटा, बिड़ला या अम्बानी हो, तुम सोचोगे कि 'वाह, बहुत बड़ा आदमी होगा!' क्योंकि सब बड़े-बड़े लोग उसके चेले हैं। बल्कि हम तो उल्टा ही कहते हैं। जिसका चेला धोबी, दर्जी या चमार हो, वही गुरु महान् होता है। क्योंकि वह गुरु हर व्यक्ति के जीवन की आवश्यकता को पूरा करने का प्रयास कर रहा है। बाकि बड़े लोग जो गुरु बनाते हैं, वे तो अपने ही नाम के लिए बनाते हैं– 'देखो, मैं उनका चेला हूँ। वे बहुत पहुँचे हुए आदमी हैं, हवाई-जहाज में घूमते हैं, राष्ट्र-अध्यक्षों से मिलते रहते हैं, पूरी दुनिया में उनका सम्मान होता है।' इससे तो हम अपने अहंकार को ही बढ़ावा दे रहे हैं। जब हम अपने अहंकार को गुरु के साथ जोड़कर बढ़ावा देते हैं, तब गुरु हमारे दिल और दिमाग की सर्जरी कैसे करेगा?

गुरु का काम है दिमाग और दिल पर सर्जरी करना। जब वह दिमाग पर सर्जरी करता है तब बतलाता है कि तुम्हारे लिए जो अनावश्यक है उसे छोड़ दो, और एक सकारात्मक लक्ष्य, चिंतन एवं व्यवहार को अपनाकर चलो जिससे तुम्हारा उत्थान हो। अपने मन और स्वभाव का अवलोकन करके उन्हें



व्यवस्थित करो। अगर तुम्हारे स्वभाव में नकारात्मकता है तो गुरु कहेगा, 'इतने नकारात्मक मत बनो, अपने मन को सकारात्मक दिशा में मोड़ो।' नकारात्मकता के प्रभाव में चेला अक्सर गुरु के आदेश की अवहेलना कर देता है और अपनी उलझनों से लड़ता-झगड़ता-जूझता रहता है। गुरु ने तो उसे मार्ग बतला दिया है, 'व्यर्थ का लड़ना-झगड़ना छोड़ो। सकारात्मक चिंतन अपनाओ। लोगों से दूर होने के बजाय उनसे जुड़ने का प्रयास करो।' अगर तुम इस मार्गदर्शन का अनुसरण कर सकते हो तो तुम्हारा उत्थान होगा। अगर तुम उपेक्षा कर देते हो तो तुम गर्त में पड़े रहोगे। इसलिए गुरु दिमाग का शल्यचिकित्सक है, मन का 'सर्जन' है। उसकी शिक्षाओं और प्रेरणा द्वारा अपने मन और स्वभाव में सकारात्मक परिवर्तन लाना सम्भव होता है।

सन् 1995 में रिखिया में प्रथम शतचण्डी महायज्ञ आयोजित किया गया। रिखिया में पहली बार इतने बड़े स्तर पर कोई कार्यक्रम आयोजित किया गया था। सभी लोग कार्यक्रम की विभिन्न गतिविधियों में संलग्न थे और मुख्य जिम्मेदारी मेरे कन्धों पर थी। जब कार्यक्रम के आरम्भ में शतचण्डी पूजा का श्रीगणेश हुआ, श्री स्वामीजी ने मुझे बुलाकर कहा, 'तुम इस पूजा में बैठने वाले हो।' मैंने कहा, 'यह कैसे सम्भव है? आप तो जानते हैं मुझ पर कितनी जिम्मेदारियाँ हैं। मुझे कितनी चीजों की व्यवस्था देखनी है। और आप चाहते

हैं कि मैं चुपचाप पूजा में बैठा रहूँ? ऐसी स्थिति में सारे कार्यक्रम की देखरेख मैं कैसे कर पाऊँगा?'

उन्होंने कहा, 'बस पूजा में बैठ जाओ और बाकी सब कुछ भूल जाओ।' मैं बैठ तो गया पर अपने मन को पूजा में टिकाये रखने के लिए मुझे मन की काफी 'फाइन-ट्यूनिंग' करनी पड़ी। मन सैकड़ों जगह भागता और उसे वापस पूजा में लाकर स्थिर करना पड़ता। मैंने पाया कि गुरु में श्रद्धा और विश्वास होने के कारण मैं थोड़ी ही देर में अपने मन को नियंत्रित करने में सफल हो गया। एक मिनट के भीतर मैं पूरी तरह दत्तचित्त हो गया और अपने बाकी सभी दायित्वों को भूल गया। मुझे अब किसी चीज की चिंता नहीं थी। केवल शुरू में क्षणभर के लिए ख्याल आया था कि मैं सब चीजों का प्रबन्ध कैसे कर पाऊँगा? लेकिन फिर विश्वास जागा और मैंने स्वयं से कहा, 'अगर मेरे गुरु चाहते हैं तो यह अवश्य होकर रहेगा।' और सचमुच ऐसा हुआ भी। अगर तुम गुरु को अपने मन की फाइन-ट्यूनिंग करने देते हो तो तुम अपने जीवन की अनेक समस्याओं और कठिनाइयों से सहजतापूर्वक छुटकारा पा सकते हो।

गुरु दिल का सर्जन भी होता है। पहले वह मन पर सर्जरी कर तुम्हारे जीवन में सकारात्मकता, आशा और स्पष्टता लाता है और उसके बाद दूसरी सर्जरी होती है दिल पर। जब दिमाग साफ हो जाता है तब वह तुम्हारे दिल को ईश्वर से जोड़ता है। जब गुरु दिल की सर्जरी करता है तब मनुष्य, जो अब तक सकाम भाव से युक्त था, अपने लिए ही सब कुछ सोचता था, धीरे-धीरे निष्काम भाव को प्राप्त करता है। स्वार्थ से ऊपर उठकर नि:स्वार्थ भाव को प्राप्त करता है। उसके जीवन की सभी सीमाएँ और बन्धन समाप्त हो जाते हैं। और वह चेला कह उठता है–

ईश्वर, अल्लाह, वाहे गुरु, चाहे कहो श्री राम।
मालिक सबका एक है, अलग-अलग हैं नाम ॥

सब भेद, सब अंतर समाप्त हो जाते हैं। लेकिन जब तक दिल की सर्जरी नहीं होती, चेले को खेद रहता है कि मेरी मुर्गी की एक ही टाँग है! इसलिए गुरु की आवश्यकता होती है, दिमाग की सर्जरी के लिए और दिल की सर्जरी के लिए। जो शिष्य अपने जीवन की बागडोर गुरु को देने के लिए तैयार होता है वही निवृत्ति-पथ का अनुसरण कर पाता है और उस निवृत्ति-पथ पर त्याग, समर्पण और विश्वास दिव्यता से जुड़ने के साधन बनते हैं।

गुरु का मार्गदर्शन

26 जून, 2010

जीवन में हम लोग जिन दो मार्गों को देखते हैं, वे प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग हैं। प्रवृत्ति-मार्ग में जीव, इन्द्रियों और संसार के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यहाँ पर तीन चीजों की मुख्य भूमिका रहती है–जीव, जीव की इन्द्रियाँ जो सम्बन्ध का माध्यम बनती हैं, तथा संसार। यह ऐसा मार्ग है जहाँ भौतिक इन्द्रियाँ और मानसिक वृत्तियाँ इन्द्रिय-विषयों में पूरी तरह लिप्त रहती हैं। ऐसी स्थिति में आंतरिक स्थिरता, संतुलन और सामंजस्य प्राप्त करने के लिए, दिव्यता का साक्षात्कार कर पाने के लिए संयम और अनुशासन का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है। संयम और अनुशासन ही प्रवृत्ति-मार्ग की साधना बनते हैं। संयम वाणी, मन एवं इन्द्रियों का होता है, और अनुशासन मंत्रों, योगाभ्यासों तथा निद्रा एवं आहार में नियमितता से सिद्ध होता है।

निवृत्ति की सिद्धि के लिए तीन आधार हैं। पहला है त्याग, दूसरा है समर्पण, और तीसरा है विश्वास। लेकिन इन तीनों को सिद्ध करने के लिए हमें गुरु की आवश्यकता होती है। जो प्रवृत्ति-गामी हैं उन्हें गुरु की आवश्यकता नहीं। हाँ, अगर गुरु मिल जाए तो कोई आपत्ति भी नहीं, लेकिन सच पूछा जाए तो प्रवृत्ति-गामियों के लिए गुरु की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वे लोग तो अपनी इन्द्रियों द्वारा निर्देशित मार्ग पर चल ही रहे हैं। प्रवृत्ति-गामी का मतलब ही होता है इन्द्रिय-निर्दिष्ट मार्ग पर चलना, मन-मर्जी के मुताबिक चलना। लेकिन जो निवृत्ति-गामी होते हैं उन्हें गुरु की जरूरत पड़ती है। गुरु वह साधन बनता है जो त्यागमय एवं समर्पित जीवन

अपनाने और अपने भीतर दृढ़ विश्वास धारण करने की प्रेरणा देता है।



प्रवृत्ति-मार्ग में मार्गदर्शन

दिमाग की सर्जरी–गुरु प्रवृत्ति-मार्ग पर किस तरह का मार्गदर्शन देता है? तुम लोग तो पहले से ही प्रवृत्ति-मार्गी जीवन जी रहे हो, तुम्हें उस मार्ग तक ले जाने की आवश्यकता नहीं। लेकिन अपने वातावरण, समाज और प्रकृति से तुम्हारा जो सम्बन्ध है, उसे 'फाइन-ट्यून' करने की आवश्यकता है।

इसके लिए गुरु को मानसिक स्तर पर काम करना पड़ता है। यहाँ गुरु 'दिमागी-सर्जन' की भूमिका निभाता है। हर व्यक्ति मानसिक स्तर पर कुछ विशेष परिस्थितियों से घिरा हुआ है। चाहे वह संत हो या संसारी, उसे मानसिक विक्षेप, तनाव, चिन्ता, विषाद और निराशा का सामना करना ही पड़ता है। गुरु केवल उसके सोचने का ढंग बदल देता है, ताकि जीवन के प्रति नकारात्मक के बजाय सकारात्मक दृष्टिकोण हो सके। असहाय और निराश होने के बजाय तुम आशावादी बनते हो, तुम्हारे भीतर प्रेरणा और उत्साह जगता है। तुम्हारे मन की फाइन-ट्यूनिंग द्वारा ही गुरु ऐसा कर पाता है।

इस तरह मानसिक स्तर पर गुरु का काम है मन के भ्रमित, संकीर्ण और नकारात्मक विचारों को बदलना। शिष्य के जीवन में पहले वैचारिक परिवर्तन होना है और उसके बाद भाव परिवर्तन। विचारों से हम संसार के विषयों को देखते हैं और उन्हीं के माध्यम से हम परमात्मा तक भी पहुँच सकते हैं। विचार मध्य की स्थिति है, चाहे वह तुम्हें संसार की ओर ले जाए या परमात्मा की ओर। इसलिए गुरु का पहला काम होता है शिष्य के जीवन में वैचारिक परिवर्तन लाना। यह वैचारिक परिवर्तन जीवन के सकारात्मक पक्षों की ओर देखने की प्रक्रिया है। जब तक तुम अपने जीवन के सकारात्मक पक्षों को देखने

और उन्हें प्राप्त करने का प्रयास नहीं करोगे, तब तक तुम्हारी मानसिकता में परिवर्तन नहीं आएगा। गुरु ही तुम्हें बतलाता है कि तुम एक अन्य दृष्टिकोण से जगत् को, स्वयं को और परमात्मा को भी देख सकते हो।

शिष्य चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी, अगर वह गुरु की इन शिक्षाओं और संदेशों को ग्रहण कर पाता है तो मन की सकारात्मक और रचनात्मक शक्तियाँ अभिव्यक्त होने लगती हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्तित्व की विभिन्न प्रतिभाओं में संतुलन, सामंजस्य और समन्वय होने लगता है। तुम अपने जीवन, परिवार और समाज के प्रति बेहतर दृष्टिकोण अपनाते हो और तुम्हें जीवन में अधिक आनंद और तृप्ति की अनुभूति होती है।

अधिकांश लोग जीवन के इस स्तर तक पहुँचकर संतुष्ट हो जाते हैं और यही उनकी यात्रा का अंतिम पड़ाव हो जाता है। ऐसे लोगों के जीवन में गुरु की आवश्यकता केवल मन और चेतना की फाइन-ट्यूनिंग के लिए थी और यह प्राप्त हो जाने के बाद उन्हें आगे गुरु की जरूरत महसूस नहीं होती।

दिल की सर्जरी– जीवन का अगला स्तर है दिल की सर्जरी का। ऐसे भी कुछ लोग होते हैं जो अपने मन की सीमाओं को लांघकर अपनी आध्यात्मिक प्रकृति का अन्वेषण करना चाहते हैं। ऐसे लोगों के लिए गुरु दिल के सर्जन बनते हैं। गुरु जो भी साधना पद्धति या विधि हमें सिखलाए, जिस भी दिशा में चलने के लिए हमें प्रेरित करे, उसका पहला प्रयोजन है मन-परिवर्तन और जब गुरु के निर्देशों का पालन करते हुए, आध्यात्मिक साधनाओं को करते हुए हमारा मन शांत और स्थिर हो जाता है, तब फिर भावनाओं में परिवर्तन लाना होता है। मन की फाइन-ट्यूनिंग करने के बाद गुरु शिष्य की भावनाओं पर काम शुरू करता है। गुरु वह आधार बनता है जहाँ शिष्य की समस्त भावनाएँ केन्द्रित होने लगती हैं।

मनुष्य की भावनाएँ उसकी प्राण-शक्ति की अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं। प्राण-शक्ति सूक्ष्म और अनियंत्रित होती है। उस पर तुम्हारा कोई नियंत्रण नहीं होता, और कई बार वह भावनात्मक विस्फोट के रूप में प्रकट होती है। मन की परिस्थिति अनुसार यह विस्फोट विभिन्न रूप ले सकता है। अगर मन किसी खतरे का सामना कर रहा है तो यह विस्फोट भय और चिंता का होगा। अगर मन में चिड़चिड़ेपन या रोष की भावना है तो विस्फोट क्रोध के रूप में होगा। यह सब तुम्हारे जीवन में हर क्षण जाने-अनजाने हो ही रहा है। तुम जीवन के विभिन्न प्रभावों और परिस्थितियों पर लगातार प्रतिक्रिया कर

रहे हो। लेकिन गुरु के सान्निध्य में तुम अपनी भावनात्मक ऊर्जाओं को एक बिन्दु पर केन्द्रित करने लगते हो। वह बिन्दु आंतरिक होता है; तुम अपनी भावनाओं को बाहरी जगत् से हटाकर आध्यात्मिक आयाम में ले जाते हो।

भावनाओं को भीतरी आयाम की ओर ले जाने की प्रक्रिया भक्ति कहलाती है। भक्ति का अनुभव गुरु के साथ रहकर ही होता है; यही हृदय को खोलने का तरीका है। रामचरितमानस में कहा भी गया है–*प्रथम भगति संतन्ह करि संगा*–भक्ति का प्रथम सोपान साधु-संतों का संग है। सत्पुरुषों के संग से तुम्हारे मन, चेतना और प्राणों का उत्थान होता है। अगर तुम नकारात्मक और आलोचक मनोवृत्ति के लोगों की संगति में रहते हो तो तुम किसी मायने में भक्त नहीं कहला सकते। ऐसी स्थिति में गुरु तुम्हारे दिल की सर्जरी कभी नहीं कर पाएँगे। भक्ति की पहली शर्त्त ही सदाचारी और सत्कर्मी सज्जनों की संगति है। इससे स्पष्ट होता है कि हमारी संगति कितनी महत्त्वपूर्ण होती है। यह हमें गलत मार्ग पर भी ले जा सकती है और सही मार्ग पर भी।

सत्संगति के साथ-साथ विश्वास को भी विकसित करना चाहिए। गुरु के साथ सम्बन्ध श्रद्धा और विश्वास पर आधारित है। भक्ति की पहली शर्त्त अर्थात् सत्पुरुषों की संगति अपनाने से श्रद्धा और विश्वास अपने आप जागृत होने लगते हैं। धीरे-धीरे अपने बारे में अधिक समझ प्राप्त होती है, जीवन की दिशा स्पष्ट होने लगती है और मार्ग के सभी अवरोध हटने लगते हैं। यही दिल की सर्जरी की शुरुआत है।

गुरु से हमें यह शिक्षा मिलती है कि किस प्रकार हम अपने हृदय को व्यापक बनाकर सर्वव्यापी सत्ता से जुड़ सकते हैं। यह अनुभव मात्र बौद्धिक ज्ञान के रूप में नहीं, बल्कि गहन आत्मीय साक्षात्कार के रूप में उदित होता है–*सियाराममय सब जग जानि, करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानि।* सृष्टि के सभी प्राणियों का सार तत्त्व एक ही है। भौतिक शरीर पंचतत्त्वों से निर्मित है, लोग देखने में भिन्न लग सकते हैं पर चाहे वे भारतीय हों या रूसी या चीनी या जापानी, वे जिस मौलिक तत्त्व से बने हैं, वह एक ही है। आध्यात्मिक स्तर पर एकता का साक्षात्कार गुरु के माध्यम से ही होता है। हम सब एक-दूसरे से और साथ ही परम सत्ता से भी जुड़े हैं। जब इस सत्य का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है तब भावनात्मक स्तर पर एक गहन रूपांतरण होता है। हमारी भावना जो स्वयं तक ही सिमित थी, अब उसमें

परिवर्तन होता है और वह भावना 'मैं' तक सीमित न रहकर सभी से जुड़ती है। मनुष्य स्वार्थ की सीमाओं से ऊपर उठता है, स्वार्थ के बंधनों से अपने आप को मुक्त करता है और एक ऐसी मनोस्थिति को प्राप्त करता है जहाँ उसके भीतर कोई कामना शेष नहीं रहती। कामना रहने का मतलब स्वार्थ-वृत्ति का जन्म और कामनाओं के समाप्त होने का मतलब स्वार्थ-वृत्ति का नाश। जैसे ही हमारे जीवन में स्वार्थ-वृत्ति की प्रबलता कम होती है, हमारा हृदय शुद्ध होने लगता है और जीवन के छल-कपट दूर हो जाते हैं। मन निर्मलता को प्राप्त करता है, भावना शुद्धता को प्राप्त करती है और जीवन के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण विकसित होता है।

गुरु के सान्निध्य में यह जो क्रम सम्पन्न होता है, वह गृहस्थों और संन्यासियों के लिए समान है। गृहस्थ को भी गुरु के आदेशों पर चलकर वैचारिक और भावनात्मक शुद्धि प्राप्त करने की आवश्यकता होती है और संन्यासी को भी। इसके पश्चात् गृहस्थ तो संतुष्ट हो जाता है कि 'मुझे गुरु मिल गए, उनकी कृपा से मैंने ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त किया, ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त करने के पश्चात् मेरा मन शांत हुआ, मेरी भावना जो पहले अपने तक ही सीमित थी अब व्यापक हो गई, मानसिक शांति और भावनात्मक शुद्धि के कारण अब व्यक्तित्व में सुखद और सकारात्मक अवस्थाओं का अनुभव कर रहा हूँ।' गृहस्थ के लिए गुरु का सम्बन्ध यहीं तक होता है और उसकी यात्रा यहीं रुक जाती है।

निवृत्ति-मार्ग में मार्गदर्शन

कुछ लोग इसके अपवाद होते हैं। वे अध्यात्म मार्ग में और आगे बढ़ना चाहते हैं और अपने आप को आध्यात्मिकता में स्थापित करना चाहते हैं। वे हो जाते हैं संन्यासी जो निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करते हैं। प्रवृत्ति-पथ पर व्यक्ति गुरु का अनुसरण करे या न करे, लेकिन निवृत्ति-पथ की यात्रा शुरू होती है गुरु के साथ। अगर पहले दिन की कहानी याद हो तो आत्माराम ने संसार-सराय से अपनी यात्रा मार्गदर्शक के साथ ही प्रारम्भ की थी। जब तक वह मार्गदर्शक मिलता नहीं, हम अपने आप को प्रवृत्ति-मार्ग से मुक्त नहीं कर पाते हैं। इच्छा भले ही हो जाए कि 'भई, बहुत झंझटों को झेल लिया हूँ, अब थोड़ी आंतरिक शांति चाहिए।' इच्छा हो सकती है लेकिन मार्ग नहीं मालूम पड़ेगा। मार्ग बतलाने के लिए मार्गदर्शक की, गुरु की आवश्यकता होती है।

संन्यासी का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जिसने अपने आप को गुरु की शिक्षाओं के प्रति समर्पित कर दिया है और उनकी शिक्षाओं के अनुसार अपने जीवन के व्यवहारों को ढालने का प्रयास कर रहा है। वास्तव में देखा जाए तो संन्यासी का यही मतलब होता है। संन्यास को हम लोग परम्परा मानते हैं और यह है भी। संन्यास को जीवन की एक अवस्था मानते हैं और यह है भी। लेकिन जो भावना एक शिष्य के जीवन में संन्यास-दीक्षा के समय उत्पन्न होती है, वह यही कि मैं अपने आप को गुरु के प्रति समर्पित करता हूँ। मैं अब गुरु की शिक्षाओं को आत्मसात् करने के लिए तत्पर हूँ। जब तक हम गुरु के प्रति समर्पित रहते हुए, गुरु की शिक्षाओं को आत्मसात् करते हुए उस मार्ग पर चलते हैं, तब तक गुरु हमें अपने जीवन में त्याग एवं समर्पण को अपनाने तथा विश्वास को धारण करने में सहायता देते हैं। यहीं पर गुरु और शिष्य के बीच एक अंतरंग सम्बन्ध की स्थापना होती है।

अनावश्यक चीजों का त्याग– निवृत्ति-मार्ग का पहला आधार है त्याग। घर-परिवार का त्याग सरल है और संन्यासी को करना भी चाहिए। अगर संन्यासी कहे कि मैं घर-परिवार का त्याग नहीं करूँगा तो फिर वह संन्यासी कैसा? परम्परा में निर्देश दिया गया है कि संन्यासी को अपने घर-परिवार के सम्बन्धों से मुक्त होना है। यहाँ पर त्याग का मतलब छोड़ना नहीं, बल्कि सम्बन्धों से अपने आप को मुक्त करना है। माता-पिता की संतान से कुछ अपेक्षाएँ होती हैं, इन अपेक्षाओं से अपने आप को मुक्त करना है।



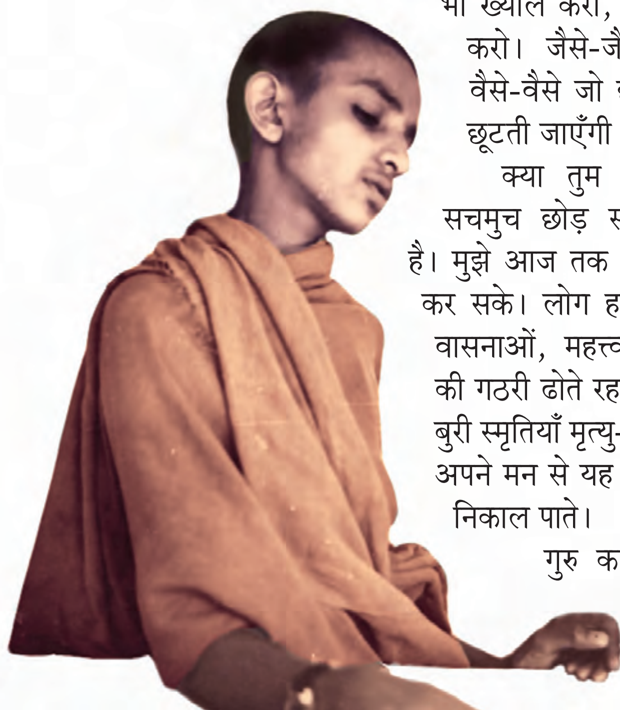
हमारे गुरुजी अपने जीवन की कहानी बतलाते हुए कहते थे कि जब मैं छोटा था तब मेरे पिताजी मुझसे कहा करते थे, 'तुम बड़े होकर पुलिस अफसर बनना', क्योंकि वे खुद पुलिस अफसर थे। स्वामीजी की माताजी गाँधीजी की शिष्या थीं और उनकी समाज-सेवा में रुचि थी। इसलिए वे स्वामीजी से कहतीं, 'तुम्हारे पिताजी पुलिस अफसर बनने की जो बात करते हैं, उसे छोड़ो। तुम बड़े होकर समाज-सेवक बनना।' उनकी चाची कहती, 'बड़े होकर डॉक्टर बनो। डॉक्टर बनोगे तो सभी का ख्याल रख सकते हो। परिवार में कोई बीमार पड़ेगा तो उसकी देख-भाल भी हो जाएगी और गरीबों की सेवा भी हो जाएगी।' इस प्रकार हर व्यक्ति अपना-अपना सुझाव स्वामीजी को देते जाता था। अब कितना सुनेगें? एक दिन सुना, एक सप्ताह सुना, एक महीना सुना, एक साल सुना, सभी की बातों को सुना और अन्त में निर्णय लिया कि जो लोग चाहते हैं वह नहीं, बल्कि मैं जो चाहता हूँ वही बनूँगा। और ले लिया संन्यास।

वे यह बात भले ही व्यंग्य में बतलाते थे, लेकिन इससे मालूम पड़ता है कि हर परिवार में अपेक्षाएँ होती हैं और इन अपेक्षाओं के साथ दबाव भी होता है। व्यक्ति को प्रभावित किया जाता है कि तुम्हें ऐसा करना चाहिए। जो व्यक्ति संन्यास मार्ग में प्रवेश करता है और अध्यात्म मार्ग में आगे बढ़ना चाहता है, उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह इन सम्बन्धों से अपने आप को मुक्त करे। इन सम्बन्धों से वह मुक्त कैसे होगा? जब तक साथ रहोगे सम्बन्ध तो बनेगा ही। इसलिए साथ रहना ही छोड़ दो। साथ नहीं रहोगे तो सम्बन्ध नहीं बनेगा, सम्बन्ध नहीं बनेगा तो अपेक्षा नहीं होगी, अपेक्षा नहीं होगी तो दबाव नहीं होगा और जब दबाव नहीं तब तुम मुक्त हो, स्वतंत्र हो। इसीलिए संन्यास परम्परा में कहा गया है कि जो व्यक्ति संन्यास मार्ग में आगे बढ़ना चाहता है, उसे अपने घर-परिवार से सम्बन्ध तोड़ना पड़ेगा। पर यह सम्बन्ध-विच्छेद भी एक भौतिक प्रक्रिया ही है।

मुझे याद है बचपन में स्वामीजी एक सूत्र कहा करते थे। बहुत बार मैं उनसे कहता था, 'स्वामीजी, हम शहर में क्यों हैं? साधु लोग तो जंगलों-पर्वतों में रहते हैं। हम लोगों को भी वहीं पर आश्रम बना कर एकांत में रहना चाहिए।' छोटा था, कुछ भी बात कह सकता था। उस समय स्वामीजी समझाते हुए कहते थे, 'देखो, रहने को तो तुम कहीं भी रह सकते हो। चाहे शहर में रहो या जंगल में। लेकिन इस बात को जान लेना

कि शहर में शोर-गुल नहीं होता और जंगलों में, हिमालय की कंदराओं में शांति नहीं होती। यह सब अपने मन का ही खेल है, मन की ही उपज है। अगर तुम अपने मन को नियंत्रण में रख सकते हो तो बीच बाजार में भी तुमको उतनी ही शांति मिलेगी जितनी हिमालय में तुम खोजते हो। और अगर अपने मन को वश में नहीं रख सकते तो हिमालय की गुफाओं में बैठकर भी तुम अशांत रहोगे।'

पहले तो यह बात समझ में नहीं आती थी, लेकिन अब इस बात को समझ पाते हैं, क्योंकि वास्तव में यह सब मन के सम्बन्धों का ही खेल है, चाहे वह सम्बन्ध घर-परिवार से हो या इन्द्रियों से या इन्द्रियों के विषयों से। यहीं पर गुरु त्याग की शिक्षा देते हैं। वे कहते हैं कि जो तुम्हारे लिए अनुपयोगी है, उसे छोड़ते जाओ। वासनाओं को छोड़ो, वासनाओं के प्रति सजग बनकर उनसे अपने आपको मुक्त करो। विषयों के साथ अपने सम्बन्ध तोड़ो। लेकिन छोड़ने के पहले, जो उपयोगी है उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास भी करते जाओ। केवल छोड़ने का ख्याल मत करो, बल्कि पाने का भी ख्याल करो, पाने के लिए भी प्रयास करो। जैसे-जैसे तुम पाते जाओगे, वैसे-वैसे जो छूटने योग्य चीजें हैं, वे छूटती जाएँगी।



क्या तुम अनावश्यक चीजों को सचमुच छोड़ सकते हो? बहुत कठिन है। मुझे आज तक कोई नहीं मिला जो यह कर सके। लोग हमेशा अपनी कामनाओं, वासनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं और स्मृतियों की गठरी ढोते रहते हैं। जीवन की अच्छी-बुरी स्मृतियाँ मृत्यु-पर्यन्त बनी रहती हैं। तुम अपने मन से यह अनावश्यक सामग्री नहीं निकाल पाते।

गुरु का सान्निध्य ही तुम्हें यह सब अनावश्यक सामग्री छोड़ना सिखाता है। कैसे? उसे स्वीकार



करके। गुरु से तुम्हें यह शिक्षा मिलती है कि अपने जीवन की अनावश्यक सामग्री का अस्तित्व स्वीकार करो और उसकी निरर्थकता को अच्छी तरह जान लो। जब तुम्हें कोई मूल्यवान् चीज मिलती है तो मूल्यहीन चीज अपने आप छूट जाती है। यही त्याग है–पहले मूल्यवान् चीज की प्राप्ति और फिर मूल्यहीन चीज की तिलांजलि। त्याग का वास्तविक अर्थ है अपने आप को उचित, उपयुक्त, सकारात्मक एवं उत्तम चीजों से युक्त करना और नकारात्मक एवं हानिकारक चीजों से मुक्त करना। गुरु तुम्हारी कमियों की ओर इशारा कर तुम्हें त्याग का मार्ग दिखाता है। कालान्तर में तुम स्वयं अपने जीवन में त्याग का अनुभव करने लगते हो। श्री स्वामीजी के प्रशिक्षण से मैंने यही समझा और जाना है।

एक बार जब श्री स्वामीजी ऋषिकेश में अपने गुरु आश्रम में रह रहे थे, स्वामी शिवानन्द जी आश्रम के सभी कमरों का निरीक्षण करते हुए उनके कमरे में आये। उन्होंने देखा कि कमरे के बीच बस एक छोटा-सा कम्बल था और बाकी जगह किताबें, फाइलें, कागज और पेन बिखरे पड़े थे। उन्होंने स्वामी सत्यानन्द से पूछा, 'तुम्हारा बिस्तर कहाँ है?' श्री स्वामीजी ने कहा,

'यह कम्बल ही मेरा बिस्तर है। मैं इसी पर सोता हूँ। जब ठण्ढ लगती है तब इसी से अपने आपको ढक लेता हूँ।'

'यह ठीक नहीं,' स्वामी शिवानन्द जी ने सिर हिलाते हुए कहा, 'तुम्हारे पास चाय वगैरह बनाने का सामान भी नहीं है क्या?' 'जी नहीं,' स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'जब मुझे इन सब चीजों की जरूरत नहीं, तब मैं इन्हें क्यों रखूँ?' स्वामी शिवानन्द जी चुपचाप अपने कमरे लौट आए और पन्द्रह मिनट बाद आश्रम के कुछ संन्यासी श्री स्वामीजी के कमरे में चौकी, गद्दे, तकिये, चादर, कम्बल, स्टोव, केतली, चाय-पत्ती और केरोसीन छोड़ गए। श्री स्वामीजी ने तुरन्त स्वामी शिवानन्द जी के पास जाकर पूछा, 'यह आपने क्या कर दिया? वह सब सामान मेरे कमरे में क्यों भिजवा दिया? मुझे उन सब चीजों की जरूरत नहीं।'

स्वामी शिवानन्द जी ने कहा, 'मुझे मालूम है तुम्हें उन चीजों की जरूरत नहीं। मैंने वह सब तुम्हारे लिए भिजवाया भी नहीं है। मैंने उन लोगों के लिए भिजवाया है जो कभी तुम्हारे कमरे में आ जाते हैं। अगर रात में कोई तुम्हारे कमरे में आ जाए और बाहर कड़कती ठण्ढ हो तो तुम उसे चाय बनाकर दे सकते हो, ओढ़ने के लिए कम्बल दे सकते हो। उसे ठण्ढ से थोड़ी राहत मिलेगी। ये चीजें तुम्हारे लिए नहीं, तुम्हारे कमरे में आने वाले अतिथियों के लिए हैं।' अपने गुरु के शब्दों को हृदयंगम कर श्री स्वामीजी अपने कमरे लौट आए।

अगर तुम उनकी जगह होते तो क्या सोचते? शायद यह सोचकर बहुत खुश होते कि 'मेरे गुरु मेरा कितना ख्याल रखते हैं। उन्होंने मुझे कमरे में चाय बनाने की अनुमति दे दी है। साथ ही स्टोव और चाय-पत्ती भी भिजवा दी है। अब मैं जब चाहे चाय बनाकर पी सकता हूँ।' तुम्हारा यही रवैया होता। गलत तो नहीं बोल रहा न? लेकिन स्वामी शिवानन्द जी और स्वामी सत्यानन्द जी की मानसिकता को देखो। स्वामी शिवानन्द जी ने कहा, 'अपने लिए मत रखो, जरूरतमन्दों के लिए रखो।' श्री स्वामीजी ने भी इस निर्देश को इसी दृष्टिकोण से स्वीकार किया। उन्होंने यह नहीं सोचा, 'स्वामी शिवानन्द जी ने मेरे लिए चौकी, कम्बल, गद्दे और तकिये भेजे हैं, जरूर मैं उनका प्रिय शिष्य हूँ।'

मैंने यह घटना एक महत्त्वपूर्ण बिंदु को उजागर करने के लिए बतायी। तुम्हारे पास सब कुछ हो सकता है, लेकिन यह आवश्यक नहीं कि तुम

उसका उपभोग करो या उससे आसक्त हो जाओ। वह भले ही तुम्हारे काम का न हो, लेकिन किसी दूसरे के काम जरूर आ सकता है। त्याग का यही सिद्धान्त है–'मुझे अमुक चीज की न जरूरत है और न ही कोई चाह। वह वहाँ पड़ी है, ठीक है। समय आने पर उसका सदुपयोग होगा।' यह एक ऐसी अवस्था का उदाहरण है जहाँ भौतिक स्तर पर तुम्हारे पास सब कुछ है लेकिन तुम्हारी भावना त्याग की है। तुम किसी चीज को अस्वीकार नहीं करते, बल्कि सब कुछ स्वीकार करते हो। धीरे-धीरे तुम जीवन के अन्य सूक्ष्म स्तरों पर भी आध्यात्मिक रत्न प्राप्त करते जाते हो और अनावश्यक कंकड़-पत्थर छूटते जाते हैं। तुम्हारे झोले से कंकड़-पत्थर खाली होते जाते हैं और उनकी जगह रत्न भरते जाते हैं।

इस तरह त्याग केवल छोड़ने की प्रक्रिया नहीं, बल्कि प्राप्त करने और उसके पश्चात् छूटने की प्रक्रिया है। त्याग तभी सफल होता है जब पहले तुम पाओगे और उसके बाद छोड़ोगे। त्याग शब्द से लोग नाहक भयभीत हो जाते हैं कि सब कुछ छोड़ना पड़ेगा। कल हमने सीढ़ी पर चढ़ने का उदाहरण दिया था। जब तुम सीढ़ी पर चढ़ते हो तो पहले एक पैर ऊपर के पाये को प्राप्त करता है और वहाँ पर अपने आप को स्थिर करता है। जब वह पैर स्थिर हो जाता है, तब नीचे वाला पैर निचले पाये को छोड़कर आगे बढ़ता है। पहले है प्राप्ति, फिर है त्याग।

उसी प्रकार से जब मन स्वस्थ हो जाता है तब मानसिक अस्वस्थता अपने आप छूट जाती है। जब भावना स्वस्थ होती है तब भावनात्मक अस्वस्थता पीछे छूट जाती है। इसलिए त्याग की जो परिभाषा है, वह छोड़ने की परिभाषा नहीं है। त्याग की परिभाषा यह है कि एक चीज को पाओ और उसके बदले में एक चीज को छोड़ो। यह प्रयास हर शिष्य के जीवन में सतत् होते रहना चाहिए।

समर्पण–निवृत्ति-मार्ग का दूसरा आधार है समर्पण। समर्पण दो शब्दों के योग से बना है, सम् एवं अर्पण। जब हम सभी क्षमताओं और प्रतिभाओं को अर्पित कर देते हैं तब वह समर्पण कहलाता है। तुम सब कुछ किसे अर्पित कर सकते हो? केवल ईश्वर या गुरु को। जहाँ तक ईश्वर का प्रश्न है, तुमने उन्हें कभी देखा नहीं, तुम उन्हें जानते नहीं। पर गुरु की उपस्थिति तो प्रत्यक्ष है। उनके साथ ठोस सम्बन्ध है। जब समर्पण का विचार आता है उस समय साधक का मन नहीं रहता। अगर मन रहता तो वह साधक से

कहता, 'यह मत दो, वह भी मत दो।' लेकिन मन की अनुपस्थिति में हम अपना सर्वस्व दे सकते हैं। यह इस बात का संकेत है कि गुरु-शिष्य सम्बन्ध में मन के परे जाना होता है। मन की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का अतिक्रमण करना होता है।

तुम्हें मिलारेप्पा की कहानी मालूम होगी। उसके गुरु ने आदेश दिया, 'तुम उस पहाड़ी की तलहटी से पत्थर उठाकर पहाड़ी के शिखर तक ले जाओ और वहाँ मेरे लिए एक कुटिया बनाओ।' कई महीनों तक मिलारेप्पा बड़े-बड़े पत्थर ढोता रहा और अन्त में कुटिया तैयार हो गई। गुरु ने कुटिया देखकर कहा, 'मुझे यह जगह पसन्द नहीं। इस कुटिया को गिराकर इसके सभी पत्थर पहाड़ी की तलहटी तक ले जाओ और वहाँ पर एक दूसरी कुटिया बनाओ।' मिलारेप्पा ने सभी पत्थरों को नीचे लाकर दुबारा कुटिया बनायी, लेकिन उसके गुरु, मारपा ने फिर अपनी नापसन्दी जाहिर की। उन्होंने कहा, 'मेरे ख्याल से पहली जगह ही ठीक थी। सब कुछ वापस ऊपर ले चलो।'

मिलारेप्पा की जगह और कोई होता तो जरूर सोचता कि गुरुजी सठिया गये हैं। लेकिन मिलारेप्पा ऐसा शिष्य था जो अपने मन के परे चला गया था। उसने अपने गुरु के ऊट-पटाँग निर्देशों पर सवाल-जवाब नहीं किया। उसने अपने आप से इतना ही कहा, 'मेरे गुरु का यही आदेश है। वे मुझसे यही करवाना चाहते हैं। मैं यही करूँगा।' उसने गुरु-आज्ञा का बिना किसी हिचकिचाहट के अक्षरश: पालन किया। उसने एक बार भी यह नहीं सोचा, 'मेरे गुरु मुझे नाहक परेशान तो नहीं कर रहे? क्या वे मेरे व्यवहार, मेरी प्रतिक्रियाओं को देखने का प्रयास तो नहीं कर रहे?' मिलारेप्पा ने अपने आपको पूरी तरह समर्पित कर दिया था। उसे पूरा विश्वास था, 'अगर मैंने अपने आप को पूरी तरह गुरुजी के हाथ सौंप दिया है तो मेरा योगक्षेम अब उनकी जिम्मेदारी है। मुझे फिर किस बात की चिन्ता?'

एक बार एक आदमी चेला बनने के लिए यहाँ आया था। मजाक में हमने पूछा कि चेला बनोगे तो क्या दोगे? उसने कहा कि आपको सब कुछ दे दूँगा। हमने पूछा, 'क्या-क्या दे सकते हो, बोलो।' उसने कहा, 'धन दे दूँगा, घर-परिवार दे दूँगा, शरीर दे दूँगा, मन दे दूँगा, आत्मा दे दूँगा, सब दे दूँगा।' हमने मन-ही-मन सोचा कि पहला चेला मिला है जो कहता है कि सब कुछ दे दूँगा। उसे चेला बना लिया और उससे कहा कि अब तुम जाकर घर में रहो।

गर्मी का मौसम आया। एक दिन बाल योग मित्र मण्डल के पन्द्रह-बीस बच्चे आश्रम आ गये। उन बच्चों ने कहा, 'स्वामीजी, आज आम खाने की इच्छा हो रही है।' अचानक हमें ख्याल आया कि जो आदमी अभी चेला बना है, उसका तो आम का बगीचा है। उसके यहाँ से आम का एक बोरा अगर मिल जाए तो इन बच्चों के साथ बैठकर खाएँगे। हमने किसी को उस चेले के पास भेजा। उसने चेले के घर जाकर दरवाजा खटखटाया। चेले ने दरवाजा खोला और पूछा, 'क्या चाहिए?'

'मुझे स्वामीजी ने भेजा है। उन्होंने कहा है कि एक बोरा आम अगर मिल जाए तो बच्चों के साथ आम का आनन्द लेंगे।'

चेले ने जवाब दिया, 'जाओ, गुरुजी को जाकर कह देना कि मैंने उनको अपना शरीर दिया है, मन दिया है, बुद्धि दी है, धन-सम्पत्ति, घर-परिवार सब कुछ दिया है, लेकिन आम नहीं दिया है!' ऐसे भी चेले होते हैं जो कहने को तो सब कुछ दे देते हैं, लेकिन असली चीज नहीं देते। वहाँ पर उनका समर्पण अधूरा रह जाता है।

जब समर्पण की बात होती है, उस समय चेले को अच्छी तरह से सोच-विचार कर लेना चाहिए कि वह कहाँ तक अपने आप को समर्पित कर सकता है। समर्पित होने का मतलब अपने आप को अंदर से खोखला कर देना। अर्जुन ने महाभारत युद्ध से पहले श्रीकृष्ण से बहुत प्रश्न किये। लेकिन श्रीकृष्ण ने उन प्रश्नों का तब तक कोई उत्तर नहीं दिया जब तक अर्जुन के मुख से यह वाक्य नहीं निकला– *शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्*। तब जाकर श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता का उपदेश देते हैं। उसके पहले चुप ही रहते हैं, कुछ कहते नहीं। गुरु को मालूम रहता है कि शिष्य की आंतरिक पात्रता तभी बढ़ती है जब वह अपने आप को अर्पित करता है। जब तक शिष्य अकड़कर खड़ा है, और अपने विचारों को ही व्यक्त करते रहता है, तब तक उसकी आंतरिक पात्रता नहीं के बराबर रहती है। समर्पण का मतलब होता है श्रद्धा से युक्त होकर गुरु या ईश्वर तत्त्व के प्रति अपने आप को अर्पित कर देना। एक बार समर्पण हो जाए, तब फिर चमत्कार होने लगते हैं।

किसी समय दो त्यागी एक पेड़ से उल्टा लटककर तपस्या कर रहे थे। उल्टा लटके हुए बहुत वर्ष हो गए। एक दिन अपनी तपस्या के प्रभाव से उन्होंने देखा कि नारदजी आकाश मार्ग से कहीं जा रहे हैं। उन लोगों ने



नारदजी को आवाज़ दी, कहा, 'भगवन्, जरा इधर तो आइये।' नारदजी इन दो तपस्वियों को देखकर आकाश मार्ग से नीचे उतरे। इन तपस्वियों ने भी पेड़ से उतरकर देवर्षि को प्रणाम किया और पूछा, 'आप कहाँ जा रहे हो?' नारदजी ने कहा, 'भई, तुम तो जानते हो, मैं स्वर्ग का रिपोर्टर हूँ। भगवान नारायण के पास दुनिया-की-समीक्षा विषय पर उनका इंटरव्यू लेने जा रहा हूँ।'

तपस्वियों ने कहा, 'हम दोनों के मन में एक प्रश्न है। अगर आप भगवान से वह प्रश्न पूछकर उसका समाधान हमें बता दें, तो हमें बहुत खुशी होगी।' नारदजी ने कहा, 'क्या प्रश्न है?' तपस्वियों ने कहा, 'भगवान से पूछियेगा कि वे हमें कब दर्शन देंगे?' नारदजी ने कहा, 'कोई बड़ी बात नहीं। उनसे पूछकर तुम दोनों को बता दूँगा।' ऐसा कहकर नारदजी चले गए।

दोनों तपस्वी फिर पेड़ से उल्टा लटककर तपस्या करने लगे। कुछ दिनों के बाद जब नारदजी भगवान से मिलकर लौटे, तब ये तपस्वी उनके सामने फिर खड़े हो गए, 'आपने हमारा प्रश्न पूछा? भगवान ने क्या उत्तर दिया?' नारदजी बोले, 'भगवान ने कहा है कि दर्शन तो अवश्य देंगे, लेकिन अभी समय लगेगा।'

‘कितना समय लगेगा?’ तपस्वियों ने उत्सुकता से पूछा।

नारदजी ने कहा, ‘इस पेड़ पर जितने पत्ते हैं, उतने ही साल लगेंगे भगवान को दर्शन देने में।’

दोनों तपस्वियों ने पेड़ की ओर देखा। वह एक विशालकाय नीम का पेड़ था जो पत्तों से लदा हुआ था। पहले तपस्वी का माथा ठनका, ‘बाप रे बाप! इस पेड़ पर तो इतने सारे पत्ते हैं। इतने साल लगेंगे!’ उसने दूसरे तपस्वी से कहा, ‘देखो भई, मैं तो इतने साल रुकने को तैयार नहीं हूँ। जाता हूँ अपने घर। कंद-मूल खाने की अपेक्षा कम-से-कम वहाँ अपनी पत्नी का बनाया हुआ अच्छा भोजन तो कर सकता हूँ। गर्मी और सर्दी को सहते हुए पेड़ से उल्टा लटक रहा हूँ। कम-से-कम अपने बिस्तर पर आराम से पैर पसारकर सो तो सकता हूँ। यहाँ कोई मिलने वाला नहीं है, कोई बात करने वाला नहीं है। घर पर अपने बेटों और पोते-पोतियों से बात तो कर सकता हूँ।’ ऐसा कहकर वह तपस्वी अपना झोला-झण्डा उठाकर अपने घर की ओर चल पड़ा।

दूसरे तपस्वी ने सोचा, ‘आज तक मालूम नहीं था कि भगवान कब दर्शन देंगे। लेकिन आज भगवान ने आश्वासन दे दिया है कि दर्शन अवश्य देंगे, साथ ही समय भी बतला दिया है!’ और वह प्रेम में मग्न हो पेड़ पर चढ़कर अपनी तपस्या दुगुने उत्साह से करने लगा। जैसे ही उसके मन में यह विचार आया कि भगवान से मुझे दर्शन का आश्वासन मिल चुका है और उनका दर्शन तो होना ही है, चाहे हजारों वर्ष बाद ही सही, तत्क्षण भगवान उस तपस्वी के सामने प्रकट हो गए!

यह देखकर नारदजी बिगड़ पड़े। उन्होंने भगवान से कहा, ‘आपने मुझे झूठा बना दिया। आपने तो कहा था कि हजारों वर्ष लगने वाले हैं। फिर अभी क्यों आ गए?’

भगवान ने कहा, ‘देखो नारद, पहले तपस्वी ने सोचा कि मैं अपना समय व्यर्थ क्यों गँवाऊँ, और वह अपना झोला-झण्डा उठाकर घर चला गया। दूसरे ने सोचा कि अब तो मुझे ईश्वर से दर्शन का आश्वासन मिल गया है। जैसे ही उसके मन में समर्पण और श्रद्धा का यह भाव आया, उसके लिए काल की गति रुक गयी, और मुझे उसे दर्शन देने के लिए प्रकट होना ही पड़ा!’

इस स्तर का समर्पण तभी आता है जब तुम अपने भीतर श्रद्धा और विश्वास जागृत कर पाते हो। नहीं तो समर्पण के मार्ग पर तुम कहीं-न-कहीं अवश्य रुक जाओगे। इसलिए समर्पण का सही मायने में यही मतलब होता

है कि तुम अपने मन के परे पहुँकर अपने गुरु के साथ एक सहज, सरल और विनम्र सम्बन्ध विकसित करो। गुरु के रास्ते यह सम्बन्ध फिर ईश्वर तक पहुँचता है।

हम अपनी श्रद्धा उसे ही दे सकते हैं, जिसे हम जानते हैं। जिसे हमने देखा नहीं है, जो अज्ञात है, उसे हम अपनी श्रद्धा कैसे अर्पित कर सकते हैं? हमारी भारतीय संस्कृति में इस विषय पर बहुत चिंतन हुआ है। गीता में भी अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा–

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

'भगवन्, आपको मानने वाले दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। एक आपके निराकार स्वरूप को मानता है, दूसरा आपके साकार स्वरूप को। इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है, कौन उत्तम है?' इसके उत्तर में भगवान कहते हैं, 'मेरे लिए दोनों मान्य हैं। जो निराकार को भजते हैं, वे भी मुझको प्राप्त करते हैं, और जो साकार को भजते हैं, वे भी। मेरे लिए तो दोनों मार्ग उत्तम हैं। लेकिन जहाँ तक मनुष्यों का प्रश्न है, उनके लिए साकार मार्ग उत्तम है, क्योंकि उस साकार मार्ग पर चलकर वे अपने मन को, अपनी भावना को एक बिंदु पर, एक इष्ट पर, एक आराध्य पर केन्द्रित कर सकते हैं।' जैसे-जैसे तुम साकार मार्ग पर आगे बढ़ोगे और अपने भीतर श्रद्धा और समर्पण विकसित करोगे, मन का द्वैत भाव खत्म होता जाएगा। अन्ततः साकार निराकार में परिवर्तित हो जाएगा। जैसे छत पर चढ़ने के लिए सीढ़ी की आवश्यकता होती है, वैसे ही आत्मान्वेषण के लिए सबसे पहले साकार रूप की आवश्यकता होती है। साकार के सिद्ध होने पर फिर निराकार स्वरूप की प्राप्ति होती है।

देखा जाए तो इस संसार में सब कुछ साकार ही है। निराकार नामक कोई चीज है ही नहीं। आखिर निराकार के बारे में तुम कैसे सोचोगे? अगर तुम कहते हो कि ॐ ही ईश्वर का निराकार रूप है, तो ॐ का भी तो स्वरूप होता है न? ॐ का भी अपना एक आकार है, एक उच्चारण है, एक ध्वनि है, एक तरंग है। यह सब साकार ही तो है। श्वास पर ध्यान करोगे तो श्वास भी एक साकार अनुभव है। मंत्र पर ध्यान करोगे तो मंत्र भी एक साकार स्पंदन है। ज्योति पर ध्यान करोगे तो ज्योति भी साकार है। राम या कृष्ण के चेहरे पर



ध्यान करोगे तो वह भी साकार है। शिवजी पर ध्यान करोगे तो वह रूप भी साकार है। सूर्य और चंद्रमा पर ध्यान करोगे तो वह भी साकार है। निराकार इस संसार में आखिर है कहाँ?

अपने आप को दिव्यता से जोड़ने का क्रम हमेशा साकार होता है, चाहे मूर्ति के स्वरूप को देखो या सूर्य, चंद्रमा, फूल अथवा ज्योति को। जिसपर भी तुम अपने ध्यान को केन्द्रित करते हो, वह रूप हमेशा साकार होता है। निराकार तो मात्र एक विचारधारा है, और कुछ नहीं। मनुष्य अपने आप को परम-तत्त्व के साथ जोड़ने का जो भी प्रयास करता है, वह हमेशा साकार स्वरूप से जोड़ने का ही प्रयास होता है। साकार में ही श्रद्धा की उपज होती है। साकार के प्रति ही हम समर्पित हो पाते हैं। साकार के साथ ही आराध्य भाव, अपनत्व की भावना विकसित होती है–ये मेरे इष्ट हैं, ये मेरे आराध्य हैं, ये मेरे गुरु हैं, इनके प्रति मैं श्रद्धावान् हूँ, इनके प्रति मैं अपने आप को समर्पित करता हूँ। मन जब अपनी वासनाओं के बल पर नहीं, आत्मा के बल पर खड़ा रहता है, तब उसे कहते हैं समर्पण। जब मन अपनी वासनाओं के बल पर खड़ा रहता है तब मनुष्य भोग मार्ग पर बढ़ता है, और जब मनुष्य का मन श्रद्धा पर टिका रहता है तब मनुष्य योग मार्ग पर आगे बढ़ता है। और यह शिक्षा हमें गुरु देते हैं कि किस प्रकार अपने मन को वासनाओं से हटाकर आत्मा से जोड़ सकते हैं। जब हम अपने आप को आत्मा से जोड़ पाते हैं, तब हमारा समर्पण पूर्ण होता है, उसके पहले नहीं।

विश्वास– निवृत्ति-पथ का तीसरा आधार है विश्वास। यह विश्वास बौद्धिक समझ का नहीं बल्कि हृदय की गहन भावना का परिणाम है। विश्वास होता है गुरु पर और स्वयं पर। एक बार एक भक्त रामकृष्ण परमहंस के दर्शन के लिए कलकत्ता से दक्षिणेश्वर गया। बरसात के दिन थे। मूसलाधार बारिश के कारण नदी में बाढ़ आ गई थी। बाढ़ के कारण नदी पर नौका चलना बंद हो गया था। भक्त रामकृष्ण परमहंस के पास गंगा के दूसरे किनारे बैठा हुआ था। शाम हो रही थी। उसे घर वापस जाना था। वह ठाकुर से कहता है, 'घर कैसे जाऊँ? नदी में बाढ़ आई है। पानी चढ़ गया है। नौकाएँ तो चल नहीं रहीं। और मेरा घर पहुँचना आवश्यक है।'

ठाकुर कहते हैं, 'माँ पर विश्वास रखो। वह सब काम सुलभ कर देगी।' भक्त कहता है, 'माँ पर विश्वास तो है लेकिन समझ में नहीं आ रहा कि मैं नदी कैसे पार करूँगा? माँ थोड़े ही आकर मुझे नदी पार ले जाएगी।' ठाकुर कहते हैं, 'कोई बात नहीं। मैं कागज़ पर एक मंत्र लिख देता हूँ। उस कागज़ को तुम अपनी जेब में रख लो, और माँ का स्मरण करते हुए नदी को पार कर जाओ।' इतना कहकर ठाकुर रामकृष्ण ने कागज़ के एक टुकड़े पर कोई मंत्र लिखा, उस कागज़ को मोड़कर उस आदमी की जेब में डाल दिया, और कहा कि अब तुम जाओ।

भक्त के मन में विश्वास था कि रामकृष्ण की शक्ति और उनके द्वारा दिया गया मंत्र उसे सुरक्षित नदी पार ले जाएगा। वह नदी के समीप आया और नदी में प्रवेश कर आगे बढ़ने लगा। उसने देखा कि डूबने के बजाय वह पानी के ऊपर चल रहा है! जब वह नदी के बीचोबीच पहुँचा, उसके मन में विचार आया, 'ठाकुर ने ऐसा कौन-सा शक्तिशाली मंत्र लिखकर दिया है, एक बार देखूँ तो सही।' उसने अपनी जेब में हाथ डाला, कागज़ निकाला, कागज़ को खोला और पढ़ा 'काली माँ की जय।' उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही, 'काली माँ की जय! ठाकुर ने बस यही लिखा है!'

जैसे ही उसके मन में यह विचार आया, वह पानी के अंदर चला गया। जैसे ही उसके मन में शंका आयी, वह डूब गया। जब तक उसके भीतर अपने गुरु पर, अपने गुरु की शक्ति पर विश्वास था, कागज़ में कुछ भी लिखा रहे, यहाँ तक कि '2 + 2 = 4' भी लिखा रहे, उस विश्वास के साथ आदमी नदी को आसानी से पार कर सकता था। लेकिन जब उसने कागज़ खोलकर देखा कि उसमें 'काली माँ की जय' ही लिखा है, उसके मन में

वह विश्वास खत्म हो गया। और विश्वास के खत्म होते ही वह पानी में डूब गया। विश्वास गुरु और स्वयं, दोनों पर होना चाहिए। गुरु में विश्वास कि वे मेरी नैया को उस पार लगाएँगे, और साथ ही स्वयं पर विश्वास कि मैं गुरु द्वारा कहे निर्देशों के अनुसार चल पाऊँगा।

उपनिषदों में एक राज्य की कहानी आती है, जहाँ बहुत सालों तक अकाल पड़ा था। जमीन बंजर हो गयी, लोग पानी के लिए तरसने लगे। वहाँ के राजा ने विद्वानों की सलाह पर एक विशेष यज्ञ करने का निर्णय लिया। एक शुभ मुहूर्त्त पर विद्वान् पण्डितों ने यज्ञ प्रारम्भ किया। राज्य के कोने-कोने से लोग आकर यज्ञ में भाग लेने लगे और ईश्वर से वर्षा के लिए प्रार्थना करने लगे।

एक दिन एक छोटा-सा लड़का यज्ञ के दर्शन के लिए आया। उसके सिर के ऊपर खुला हुआ छाता था। यज्ञमण्डप में उपस्थित सभी लोग उस लड़के का मजाक उड़ाने लगे, 'अरे! यहाँ छाता लेकर क्यों आए हो? आसमान में एक भी बादल नहीं, सूरज आग उगल रहा है और तुम सिर पर छाता लेकर खड़े हो। तुम्हें क्या लगता है, बारिश होने वाली है?' लड़के ने उत्तर दिया, 'आप लोग वर्षा लाने के लिए कितने दिनों से यज्ञ कर रहे हैं पर फिर भी आपको परिणाम के बारे में आशंका है। मैं दूर के गाँव से आया हूँ, इस विश्वास के साथ कि इस यज्ञ से अवश्य वर्षा होगी और हमारे राज्य पर वर्षों से मण्डरा रहा संकट टलेगा। मुझे पूरा विश्वास है कि वर्षा अवश्य होगी।'

बालक के यह शब्द सुनकर सभी पण्डित निरुत्तर हो गए। वे तो यंत्रवत् यज्ञ किये जा रहे थे, उन्हें अपने कार्य के परिणाम पर विश्वास नहीं था, जबकि उस लड़के को पूरा भरोसा था कि पण्डितों के प्रयास अवश्य फलीभूत होंगे। वह इस विश्वास के साथ आया था, और जैसे ही उसके मुँह से ये शब्द निकले, वर्षा शुरू हो गई। कई दिनों तक मूसलाधार बारिश होती रही और राज्य में पुन: हरियाली छा गई। यह सब उस छोटे-से बालक के कारण हुआ, जिसके हृदय में यह दृढ़ विश्वास था कि यज्ञ सफल होगा।

इसी तरह रामचरितमानस में माता शबरी का वृत्तान्त आता है। जब वे सोलह बरस की थीं, उनके गुरु ने उनसे कहा था, 'एक दिन प्रभु श्रीराम तुम्हारी कुटिया में अवश्य पधारेंगे।' उन्होंने आगमन का समय नहीं बताया पर उस दिन से माता शबरी हर दिन यही सोचतीं, 'आज वह शुभ दिन

है जब प्रभु श्रीराम मेरी कुटिया को धन्य करेंगे।' हर दिन वे श्रीराम के स्वागत की तैयारी करतीं। अपनी कुटिया की सफाई करतीं, फल-फूल एकत्र करतीं और उनका आसन तैयार करतीं। वे अस्सी बरस की हो गईं, फिर भी यह सब प्रतिदिन करती रहीं। तब जाकर श्री राम उनकी कुटिया में पधारे। चौंसठ वर्षों से वे प्रतिदिन उनकी प्रतीक्षा कर रही थीं। क्या तुम लोग ऐसा कर पाते? तीन दिन बाद ही तुम कह देते, 'जब प्रभु आयेंगे, तब देखी जाएगी। रोज-रोज तैयारी करने से क्या फायदा?' लेकिन माता शबरी को अपने गुरु पर पूरा विश्वास था। गुरु ने कहा था कि श्रीराम एक दिन तुम्हारे यहाँ आयेंगे और वे हर दिन उसी लगन और भावना के साथ प्रभु की राह देखती रहीं।

इन उदाहरणों से हमें संकेत मिलता है कि हम अपने जीवन में किस प्रकार की मानसिकता विकसित कर सकते हैं, बशर्ते हमारी भावना में गहराई और तीव्रता हो।

त्याग, समर्पण और विश्वास–एक निवृत्ति-मार्गी के लिए ये तीनों आवश्यक हैं, जो उसे जीवन में आगे ले जा सकते हैं। जैसे-जैसे हम इस मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, हमारी कामनाएँ, वासनाएँ और महत्त्वाकांक्षाएँ कम होती जाती हैं। मन बन्धन-मुक्त होता जाता है और हम अपनी आध्यात्मिक प्रकृति का पुन: अनुभव करने लगते हैं। फिर जो सम्बन्ध हम स्वयं, गुरु और ईश्वर के साथ स्थापित करते हैं, वह स्थायी एवं शाश्वत होता है। जिस प्रकार ईश्वर की ऊर्जा गुरु में जीवन्त और जागृत रहती है, उसी प्रकार शिष्य के जीवन मे भी गुरु की ऊर्जा जीवन्त और जागृत हो जाती है।

लक्ष्य की प्राप्ति

जीवन के ये दो मार्ग हैं, प्रवृत्ति और निवृत्ति। प्रवृत्ति-मार्गी संसार में संलग्न रहते हैं, इसलिए उनके लिए जीवन को अनुशासन में लाना, व्यवस्थित करना आवश्यक होता है। इसके लिए संयम, अनुशासन और साधना–ये उपाय बताए गए हैं। वाणी संयम द्वारा वाणी में सत्यता और प्रियता को लाना; मानसिक संयम द्वारा अपने सामर्थ्य, कमजोरी, महत्त्वाकांक्षा एवं आवश्यकता के प्रति सजग होकर उपयोगी चीजों को प्राप्त करने का प्रयास करना और अनुपयोगी चीजों का तिरस्कार कर देना; और प्रतिपक्ष भावना के साथ इन्द्रियों को संयमित करना–संयम के ये तीन अंग हैं। अनुशासन

में मन के लिए मंत्र; शरीर और प्राण के लिए योगाभ्यास; अंतरात्मा के लिए ध्यान तथा जीवन को व्यवस्थित करने के लिए आहार संयम और निद्रा संयम। इस बात को याद रखना कि अगर तुम आहार और निद्रा में नियमितता ला सकते हो, तो बाकी सब चीजें अपने आप ही व्यवस्थित हो जाती हैं। यह मार्ग है प्रवृत्ति-गामियों के लिए, जिन्हें यह देखना है कि वे अपने सामान्य जीवन में किस प्रकार इन विधियों को शामिल कर सकते हैं, ताकि उन्हें इस लोक का भी लाभ मिले और उस लोक का भी।

निवृत्ति-मार्गी, जो संसार से अलग होकर आत्मान्वेषण के लिए तत्पर होते हैं, उनके लिए त्याग, समर्पण और विश्वास आवश्यक होते हैं। साथ ही निवृत्ति-गामियों के लिए गुरु का सान्निध्य भी आवश्यक होता है ताकि वे उनके दिमाग और दिल की सर्जरी कर सकें। दिमाग की सर्जरी द्वारा हम सद्विचारों से युक्त होते हैं और हृदय की सर्जरी द्वारा सद्भावनाओं से। सद्विचारों और सद्भावनाओं से युक्त होकर फिर त्याग, समर्पण और विश्वास मार्ग में आगे बढ़ते हुए, जिस लक्ष्य के लिए हमने जन्म लिया है, उस तक धीरे-धीरे पहुँच सकते हैं। वह महान् लक्ष्य है ब्रह्मपुरी।

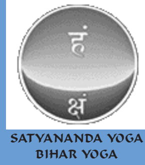




स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में सन् 1960 में हुआ। जन्म से ही उनकी जीवन-दिशा उनके गुरु, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा निर्देशित रही। चार वर्ष की अवस्था में वे गुरु-सान्निध्य में रहने बिहार योग विद्यालय आये, जहाँ उनके गुरु ने योग निद्रा के माध्यम से उन्हें योग एवं अध्यात्म का गहन प्रशिक्षण प्रदान किया। सन् 1971 में वे दशनामी संन्यास परम्परा में दीक्षित हुए, तत्पश्चात् 11 वर्षों तक विभिन्न देशों की यात्राएँ कर उन्होंने अनेक कलाओं में दक्षता अर्जित की और विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में रहकर उनकी गहरी समझ प्राप्त की तथा यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, उत्तर एवं दक्षिण अमरीका में अनेक सत्यानन्द योग केन्द्रों एवं आश्रमों की स्थापना की।

सन् 1983 में गुरु-आज्ञानुसार भारत लौटकर वे बिहार योग विद्यालय, शिवानन्द मठ तथा योग शोध संस्थान की गतिविधियों के संचालन में संलग्न हो गए। सन् 1990 में वे परमहंस-परम्परा में दीक्षित हुए और 1995 में स्वामी सत्यानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में उनका अभिषेक किया गया। सन् 1994 में उन्होंने विश्व के प्रथम योग विश्वविद्यालय, बिहार योग भारती की तथा 2000 में योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की स्थापना की। सन् 1995 में उन्होंने बच्चों के एक बृहत् योग आन्दोलन, बाल योग मित्र मण्डल का शुभारम्भ किया। मुंगेर में विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने के अलावा उन्होंने दुनियाभर के साधकों का मार्गदर्शन करने हेतु व्यापक रूप से यात्राएँ कीं। सन् 2009 में उन्हें अपने गुरु से संन्यास जीवन का एक नया अध्याय शुरू करने का आदेश प्राप्त हुआ।

स्वामी निरंजनानन्द योग दर्शन, अभ्यास एवं जीवनशैली की गहन जानकारी और समझ रखते हैं तथा योग, तंत्र एवं उपनिषदों पर अनेक प्रमाणिक पुस्तकों के प्रणेता भी हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए वे इस समय मुंगेर में अपने गुरु के मिशन को आगे बढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं।



SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

'एक यात्री था जो अनन्त काल से यात्रा करता आ रहा था। उसकी यात्रा का उद्देश्य अपने नगर पहुँचना था। पर वह नगर बहुत दूर था। यात्री धीरे-धीरे अपने पगों को अपने गन्तव्य की ओर बढ़ाते चलता था। नगर का नाम था ब्रह्मपुरी और यात्री का नाम था श्रीमान् आत्माराम ...'

सन् 2009 से स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ है और मुंगेर में योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला के अन्तर्गत योग के विभिन्न पक्षों पर दिये गये प्रबोधक व्याख्यान स्वामीजी की इसी नयी जीवनशैली के अंग हैं।

हिमालय पर्वतों के सुरम्य, एकान्तमय वातावरण में गहन चिंतन करने के बाद स्वामीजी ने गंगा दर्शन लौटकर जून 2010 की योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति-मार्ग को अपने सत्संगों का विषय चुना। उनके विवेचन की शुरुआत एक प्रतीकात्मक कथा से होती है, जिसका मुख्य नायक, आत्माराम, अपने गन्तव्य, ब्रह्मपुरी की ओर यात्रा कर रहा है। इस कथा को आधार बनाकर स्वामीजी ने बहुत सुन्दर ढंग से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग के मुख्य लक्षणों, साधनाओं और लक्ष्यों का निरूपण किया है। सांसारिक जीवन जीते हुए भी किस प्रकार सुख, सामंजस्य और संतुष्टि का अनुभव किया जा सकता है; जीवन के किस मोड़ पर साधक वास्तविक रूप से आध्यात्मिक मार्ग पर आता है; और साधक की इस यात्रा में मार्गदर्शक की क्या भूमिका होती है – आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित इन सभी आधारभूत प्रश्नों का उत्तर इन सत्संगों में निहित है।



ISBN :978-93-81620-10-6